श्रीमद्देवेन्द्रसूरि-विरचित—

बन्धस्वामित्व-तीसरा कर्मग्रन्थ ।

(हिन्दी-अनुवाद-सहित)

प्रकाशक—

श्रीआत्मानन्दजैनपुस्तकप्रचारक मण्डल

रोशन मुहल्ला—आगरा ।

वीर सं० २४५३ विक्रम सं० १९८४ ई० सन् १९२७

द्वितीय संस्करण] [कीमत ॥)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्म्मा, शान्ति प्रेस, आगरा ।

लाला देवीप्रसाद जी जौहरी, कलकत्ता निवासी ।

सूचना

महानुभावो !

जिन व्यक्ति का फोटो इस पुस्तक में आप देख रहे हैं वह काशी के एक प्रसिद्ध जौहरी थे लेकिन विशेष जीवन उन्होंने कलकत्ते में बिताया था, उनकी मृत्यु वृद्ध अवस्था में होने पर उनकी पत्नी मुन्नीबीबी ने इस मण्डल को पुस्तकें छपाने के कार्य्य में पूर्ण सहायता की थी और जिसके कारण ही उक्त महाशय का फोटो पहले नवतत्त्व में दिया जा चुका है और अब आप इस पुस्तक में देख रहे हैं।

इस उत्तम विचार के लिये मण्डल उनका अति आभारी है। मण्डल जिस तरह जैन साहित्य की सेवा बजा रहा है उसी तरह दान वीर की सेवा भी बजा रहा है। आशा है कि हमारे और दानवीर भी इसी तरह देशकाल की गति का ध्यान रखते हुये हिन्दी जैन साहित्य प्रचार में सहायता देकर मण्डल को अपनी उदारता का परिचय देने की कृपा करेंगे।

आपका दास—

दयालचन्द जौहरी
मंत्री, श्री आत्मानन्द जैन
पुस्तक प्रचारक मण्डल

रोशन मुहल्ला आगरा
१ जून सन १९२७

सामान्य सूची।

वक्तव्य।

यह बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ हिन्दी–अनुवाद-सहित पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है। यह ग्रन्थ प्रमाण में छोटा होने पर भी विषय-दृष्टि से गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। अगले कर्मग्रन्थ और पञ्चसंग्रह आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिये जिज्ञासुओं को इस का पढ़ना आवश्यक है।

संकलन-क्रम—शुरू में एक प्रस्तावना दी गई है जिसमें पहले ग्रन्थ का विषय बतलाया है। अनन्तर मार्गणा और गुण स्थान का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिये उन पर कुछ विचार प्रकट किये हैं तथा उन दोनों का पारस्परिक अन्तर भी दिखाया है। इसके बाद यह दिखाया है कि तीसरे कर्मग्रन्थ का पूर्व कर्मग्रन्थों के साथ क्या सम्बन्ध है। अनन्तर, तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास के लिये दूसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास की आवश्यकता जनाने के बाद प्राचीन–नवीन तीसरे कर्मग्रन्थ की तुलना की है, जिससे पाठकों को यह बोध हो कि किसमें कौनसा विषय अधिक, न्यून और किस रूप में वर्णित है। प्रस्तावना के बाद तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची दी है जिससे कि गाथा और पृष्ठवार विषय मालूम हो सके। तत्पश्चात् कुछ पुस्तकों के नाम दिये हैं जिनसे अनुवाद, टिप्पणी आदि में सहायता ली गई है।

इसके बाद अनुवाद-सहित मूल ग्रन्थ है। इसमें मूल गाथा के नीचे छाया है जो संस्कृत जानने वालों के लिये विशेष उपयोगी है। छाया के नीचे गाथा का सामान्य अर्थ लिख कर उसका विस्तार से भावार्थ लिखा गया है। पढ़ने वालों की सुगमता के लिये भावार्थ में यन्त्र भी यथास्थान दाखिल किये हैं। बीच बीच में जो जो विषय विचारास्पद, विवादास्पद, या संदेहास्पद आया है उस पर टिप्पणी में अलग ही विचार किया है जिससे विशेषदर्शियों को देखने व विचारने का अवसर मिले और साधारण अभ्यासियों को मूल ग्रन्थ पढ़ने में कठिनता न हो। जहां तक हो सका, टिप्पणी आदि में विचार करते समय प्रामाणिक ग्रन्थों का हवाला दिया है और जगह २ दिगम्बर ग्रन्थों की संमति-विमति भी दिखाई है।

अनुवाद के बाद तीन परिशिष्ट हैं। परिशिष्ट (क) के पहले भाग में **गोम्मटसार** के खास स्थलों का गाथा वार निर्देश किया है जिससे अभ्यासियों को यह मालूम हो कि तीसरे कर्मग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले कितने स्थल गोम्मटसार में हैं और इसके लिये उसका कितना २ हिस्सा देखना चाहिये। दूसरे भाग में श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्र के समान-असमान कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख इस आशय से किया है कि दोनों संप्रदाय का तात्त्विक विषय में कितना और किस किस बात में साम्य और वैषम्य है। प्रत्येक सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख करके साथ ही उस टिप्पणी के पृष्ठ का नम्बर सूचित किया है जिसमें उस सिद्धान्त पर विशेष विचार किया है। तीसरे भाग में इस कर्मग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाली **पञ्चसंग्रह** की

कुछ बातों का उल्लेख है। परिशिष्ट (ख) में मूल गाथा के प्राकृत शब्दों का संस्कृत छाया तथा हिन्दी-अर्थ-सहित कोष है। परिशिष्ट (ग) में अभ्यासियों के सुभीते के लिये केवल मूल गाथाएँ दी हैं।

अनुवाद में कोई भी विषय शास्त्र विरुद्ध न आ जाय इस बात की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। कहीं कहीं पूर्वा पर विरोध मिटाने के लिये अन्य प्रमाण के अभाव में अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। क्या, छोटे क्या बड़े, सब प्रकार के अभ्यासियों के सुभीते के लिये अनुवाद का सरल पर महत्वपूर्ण विषय से अलंकृत करने की यथासाध्य कोशिश की है। तिस पर भी अज्ञात भाव से जो कुछ त्रुटि रह गई हो उसे उदार पाठक संशोधित कर लेवें और हमें सूचना देने की कृपा करें ताकि तीसरी आवृत्ति में सुधार हो जाय।

निवेदक—वीरपुत्र।

प्रस्तावना

विषय—मार्गणाओं में गुणस्थानों को लेकर बन्धस्वामित्व का वर्णन इस कर्म ग्रन्थ में किया है; अर्थात् किस किस मार्गणा में कितने कितने गुण स्थानों का सम्भव है और प्रत्येक मार्गणा-वर्त्ती जीवों की सामान्य-रूप से तथा गुण स्थान के विभागानुसार कर्म-बन्ध-सम्बन्धिनी कितनी योग्यता है इसका वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

मार्गणा, गुणस्थान और उनका पारस्परिक अन्तर।

(क) मार्गणा—संसार में जीव-राशि अनन्त है। सब जीवों के बाह्य और आन्तरिक जीवन की बनावट में जुदाई है। क्या डील-डौल, क्या इन्द्रिय-रचना, क्या रूप-रङ्ग, क्या चाल-ढाल क्या विचार-शक्ति, क्या मनो-बल, क्या विकारजन्य भाव, क्या चारित्र सब विषयों में जीव एक दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद-विस्तार कर्मजन्य—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक—भावों पर तथा सहज पारिणामिक भाव पर अवलम्बित है। भिन्नता की गहराई इतनी ज्यादा है कि इससे सारा जगत् आप ही अजायबघर बना हुआ है। इन अनन्त भिन्नताओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में चौदह विभागों में विभाजित किया है। चौदह विभागों के भी अवान्तर विभाग किये हैं, जो ६२ हैं। जीवों की बाह्य-आन्तरिक-जीवन-सम्बन्धिनी

अनन्त भिन्नताओं के बुद्धिगम्य उक्त वर्गीकरण को शास्त्र में 'मार्गणा' कहते हैं।

(ख) **गुणस्थान**—मोह का प्रगाढ़तम आवरण, जीव की निकृष्टतम अवस्था है। सम्पूर्ण चारित्र-शक्ति का विकास—निर्मोहता और स्थिरता की पराकाष्ठा—जीव की उच्चतम अवस्था है। निकृष्टतम अवस्था से निकल कर उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिये जीव मोह के परदे को क्रमशः हटाता है और अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करता है। इस विकास-मार्ग में जीव को अनेक अवस्थायें तय करनी पड़ती हैं। जैसे थरमामीटर की नली के अङ्क, उष्णता के परिमाण को बतलाते हैं वैसे ही उक्त अनेक अवस्थायें जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा को जनाती हैं। दूसरे शब्दों में इन अवस्थाओं को आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखायें कहना चाहिये। विकास-मार्ग की इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं। इन क्रमिक संख्यातीत अवस्थाओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में १४ विभागों में विभाजित किया है। यही १४ विभाग जैन शास्त्र में '१४ गुणस्थान' कहे जाते हैं।

वैदिक साहित्य—में इस प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन है *****पातञ्जल योग-दर्शन** में ऐसी आध्यात्मिक भूमिकाओं का मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका

---

* पाद १ सू. ३६; पाद ३ सू. ४८-४९ का भाष्य; पाद १ सूत्र १ की टीका।

और संस्कारशेषा नाम से उल्लेख किया है। †योगवासिष्ठ में अज्ञान की सात और ज्ञान की सात इस तरह चौदह चित्त-भूमिकाओं का विचार आध्यात्मिक विकास के आधार पर बहुत विस्तार से किया है।

(ग) मार्गणा और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर—मार्गणाओं की कल्पना कर्म-पटल के तरतमभाव पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताएं जीव को घेरे हुए हैं वही मार्गणाओं की कल्पना का आधार है। इसके विपरीत गुणस्थानों की कल्पना कर्मपटल के, खास कर मोहनीय कर्म के, तरतमभाव और योग की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर अवलम्बित है।

मार्गणाएँ जीव के विकास की सूचक नहीं हैं किन्तु वे उस के स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण हैं। इससे उलटा गुणस्थान, जीव के विकास के सूचक हैं, वे विकास की क्रमिक अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण हैं।

मार्गणाएँ सब सह-भाविनी हैं पर गुणस्थान क्रम-भावी। इसी कारण प्रत्येक जीव में एक साथ चौदहों मार्गणाएँ किसी न किसी प्रकार से पाई जाती हैं—सभी संसारी जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान पाये जाते हैं। इससे उलटा

---

† उत्पत्ति प्रकरण-सर्ग ११७-११८-१२६, निर्वाण १२०-१२६।

गुणस्थान एक समय में एक जीव में एक ही पाया जाता है—एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के अधिकारी नहीं बन सकते, किन्तु उन का कुछ भाग ही एक समय में एक गुणस्थान का अधिकारी होता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि एक जीव एक समय में किसी एक गुणस्थान में ही वर्तमान होता है परन्तु एक ही जीव एक समय में चौदहों मार्गणाओं में वर्तमान होता है।

पूर्व पूर्व गुणस्थान को छोड़ कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्त करना आध्यात्मिक विकास को बढ़ाना है, परन्तु पूर्व पूर्व मार्गणा को छोड़ कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्त ही की जा सकती हैं और न इनसे आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध होता है। विकास की तेरहवीं भूमिका तक पहुँचे हुए–कैवल्य–प्राप्त–जीव में भी कषाय के सिवाय सब मार्गणाएँ पाई जाती हैं पर गुणस्थान केवल तेरहवाँ पाया जाता है। अन्तिम–भूमिका–प्राप्त जीव में भी तीन चार को छोड़ सब मार्गणाएँ होती हैं जो कि विकास की बाधक नहीं हैं, किन्तु गुणस्थान उस में केवल चौदहवां होता है।

पिछले कर्मग्रन्थों के साथ तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति—दुःख हेय है क्योंकि उसे कोई भी नहीं चाहता। दुःख का सर्वथा नाश तभी हो सकता है जब कि उस के असली कारण का नाश किया जाय। दुःख की असली जड़ है कर्म (वासना)। इसलिये उस का विशेष परिज्ञान सब को करना चाहिये; क्योंकि कर्म का परिज्ञान बिना किये न तो कर्म से छुटकारा पाया जा

सकता है और न दुःख से। इसी कारण पहले कर्मग्रन्थ में कर्म के स्वरूप का तथा उस के प्रकारों का बुद्धिगम्य वर्णन किया है।

कर्म के स्वरूप और प्रकारों को जानने के बाद यह प्रश्न होता है कि क्या कदाग्रहि-सत्याग्रही, अजितेन्द्रिय-जितेन्द्रिय, अशान्त-शान्त और चपल-स्थिर सब प्रकार के जीव अपने अपने मानस-क्षेत्र में कर्म के बीज को बराबर परिमाण में ही संग्रह करते और उनके फल को चखते रहते हैं या न्यूनाधिक परिमाण में ? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। गुणस्थान के अनुसार प्राणीवर्ग के चौदह विभाग कर के प्रत्येक विभाग की कर्म-विषयक बन्ध-उदय-उदीरणा-सत्ता—सम्बन्धिनी योग्यता का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार प्रत्येक गुणस्थानवाले अनेक शरीरधारियों की कर्म-बन्ध आदि सम्बन्धिनी योग्यता दूसरे कर्मग्रन्थ के द्वारा मालूम की जाती है इसी प्रकार एक शरीरधारी की कर्म-बन्ध-आदि-सम्बन्धिनी योग्यता, जो भिन्न भिन्न समय में आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अनुसार बदलती रहती है उस का ज्ञान भी उसके द्वारा किया जा सकता है। अतएव प्रत्येक विचार-शील प्राणी अपने या अन्य के आध्यात्मिक विकास के परिमाण का ज्ञान करके यह जान सकता है कि मुझ में या अन्य में किस किस प्रकार के तथा कितने कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता की योग्यता है।

उक्त प्रकार का ज्ञान होने के बाद फिर यह प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले भिन्न भिन्न गति के जीव

या समान गुणस्थान वाले किन्तु न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीव कर्म-बन्ध की समान योग्यता वाले होते हैं या असमान योग्यता वाले ? इस प्रकार यह भी प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले स्थावर-जंगम जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु भिन्न-भिन्न-योग-युक्त जीव की या समान गुण-स्थानवाले भिन्न-भिन्न-लिंग (वेद)—धारी जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु विभिन्न कषाय वाले जीव की बन्ध-योग्यता बराबर ही होती है या न्यूनाधिक ? इस तरह ज्ञान, दर्शन, संयम आदि गुणों की दृष्टि से भिन्न भिन्न प्रकार के परन्तु गुणस्थान की दृष्टि से समान प्रकार के जीवों की बन्ध-योग्यता के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर, तीसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। इस में जीवों की गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि चौदह अवस्थाओं को लेकर गुणस्थान-क्रम से यथा-संभव बन्ध-योग्यता दिखाई है, जो आध्यात्मिक दृष्टि वालों को बहुत मनन करने योग्य है।

दूसरे कर्मग्रन्थ के ज्ञान की अपेक्षा—दूसरे कर्म-ग्रन्थ में गुणस्थानों को लेकर जीवों की कर्म-बन्ध-सम्बन्धिनी योग्यता दिखाई है और तीसरे में मार्गणाओं को लेकर मार्गणाओं में भी सामान्य-रूप से बन्ध-योग्यता दिखाकर फिर प्रत्येक मार्गणा में यथा-संभव गुणस्थानों को लेकर वह दिखाई गई है। इसीलिये उक्त दोनों कर्मग्रन्थों के विषय भिन्न होने पर भी उनका आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि जो दूसरे कर्मग्रन्थ को अच्छी तरह न पढ़ ले वह तीसरे का अधिकारी ही नहीं हो सकता। अतः तीसरे के पहले दूसरे का ज्ञान कर लेना चाहिये।

प्राचीन और नवीन तीसरा कर्मग्रन्थ—ये दोनों, विषय में समान हैं। नवीन की अपेक्षा प्राचीन में विषय-वर्णन कुछ विस्तार से किया है; यही भेद है। इसी से नवीन में जितना विषय २५ गाथाओं में वर्णित है उतना ही विषय प्राचीन में ५४ गाथाओं में। ग्रन्थकार ने अभ्यासियों की सरलता के लिए नवीन कर्मग्रन्थ की रचना में यह ध्यान रक्खा है कि निष्प्रयोजन शब्द-विस्तार न हो और विषय पूरा आवे। इसी लिए गति आदि मार्गणा में गुणस्थानों की संख्या का निर्देश जैसा प्राचीन कर्मग्रन्थ में बन्ध-स्वामित्व के कथन से अलग किया है नवीन कर्मग्रन्थ में वैसा नहीं किया है; किन्तु यथा-संभव गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व दिखाया है, जिस से उन की संख्या को अभ्यासी आप ही जान लेवे। नवीन कर्मग्रन्थ है संक्षिप्त, पर वह इतना पूरा है कि इस के अभ्यासी थोड़े ही में विषय को जान कर प्राचीन बन्ध-स्वामित्व को विना टीका-टिप्पणी की मदद के जान सकते हैं इसीसे पठन–पाठन में नवीन तीसरे का प्रचार है।

गोम्मटसार के साथ तुलना—तीसरे कर्मग्रन्थ का विषय कर्मकाण्ड में है, पर उस की वर्णन-शैली कुछ भिन्न है। इस के सिवाय तीसरे कर्मग्रन्थ में जो जो विषय नहीं हैं और दूसरे के सम्बन्ध की दृष्टि से जिस जिस विषय का वर्णन करना पढ़ने वालों के लिए लाभदायक है वह सब कर्मकाण्ड में है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं में केवल बन्ध-स्वामित्व वर्णित है परन्तु कर्मकाण्ड में बन्ध-स्वामित्व के अतिरिक्त मार्गणाओं को लेकर उदय-स्वामित्व, उदीरणा-स्वामित्व, और सत्ता-स्वामित्व भी

वर्णित है [इस के विशेष खुलासे के लिये परिशिष्ट (क) नं. १ देखो]। इसलिए तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यासियों को उसे अवश्य देखना चाहिये। तीसरे कर्मग्रन्थ में उदय-स्वामित्व आदि का विचार इसलिए नहीं किया जान पड़ता है कि दूसरे और तीसरे कर्मग्रन्थ के पढ़ने के बाद अभ्यासी उसे स्वयं सोच लेवे। परन्तु आज कल तैयार विचार को सब जानते हैं; स्वतंत्र विचार कर विषय को जानने वाले बहुत कम देखे जाते हैं। इसलिए कर्मकाण्ड की उक्त विशेषता से सब अभ्यासियों को लाभ उठाना चाहिये।

तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची।

अनुवाद में प्रमाण रूप से निर्दिष्ट पुस्तकें।

भगवती सूत्र ।

उत्तराध्ययन सूत्र । (आगमोदय समिति, सुरत)

औपपातिक सूत्र । (आगमोदय समिति, सुरत)

आचारांग-निर्युक्ति ।

तत्वार्थ-भाष्य ।

पञ्चसंग्रह ।

चन्द्रीय संग्रहणी ।

चौथा नवीन कर्मग्रन्थ ।

प्राचीन बन्धस्वामित्व (प्राचीन तीसरा कर्मग्रन्थ)

लोकप्रकाश ।

जीवविजयजी-टबा ।

जयसोमिसूरि-टबा ।

सर्वार्थसिद्धि-टीका (पूज्यपादस्वामि-कृत)

गोम्मटसार-जीवकाण्ड तथा कर्मकाण्ड ।

पातञ्जल योगसूत्र ।

योगवासिष्ठ ।

श्रीदेवेन्द्रसूरि-विरचित।

बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ।

(हिन्दी--भाषानुवाद--सहित।)

" मंगल और विषय-कथन। "

बन्धविहाणविमुक्कं, वन्दिय सिरिवद्धमाणजिणचन्दं।
गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं॥ १॥

बन्धविधानविमुक्तं वन्दित्वा श्रीवर्धमानजिनचन्द्रम्।
गत्यादिषु वक्ष्ये समासतो बन्धस्वामित्वम्॥ १॥

अर्थ—भगवान् वीरजिनेश्वर जो चन्द्र के समान सौम्य हैं, तथा जो कर्म-बन्ध के विधान से निवृत्त हैं—कर्म को नहीं बाँधते—उन्हें नमस्कार करके गति आदि प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान जीवों के बन्धस्वामित्व को मैं संक्षेप से कहूँगा॥ १॥

भावार्थ।

बन्ध—*मिथ्यात्व आदि हेतुओं से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-योग्य परमाणुओं का जो सम्बन्ध, उसे बंध कहते हैं।

---

* देखो चौथे कर्मग्रन्थ की ५० वीं गाथा।

मार्गणा—गति आदि जिन अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा—विचारणा—की जाती है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं।

मार्गणाओं के मूल *भेद १४ और उत्तर भेद ६२ हैं; जैसे:—पहली गतिमार्गणा के ४, दूसरी इन्द्रियमार्गणा के ५, तीसरी कायमार्गणा के ६, चौथी योगमार्गणा के ३, पांचवीं वेदमार्गणा के ३, छट्ठी कषायमार्गणा के ४, सातवीं ज्ञानमार्गणा के ८, आठवीं संयममार्गणा के ७, नववीं दर्शनमार्गणा के ४, दसवीं लेश्यामार्गणा के ६, ग्यारहवीं भव्यमार्गणा के २, बारहवी सम्यक्त्व मार्गणा के ६, तेरहवीं संज्ञिमार्गणा के २ और चौदहवीं आहारकमार्गणा के २ भेद हैं। कुल ६२ †भेद हुए।

बन्धस्वामित्व—कर्मबन्ध की योग्यता को 'बन्धस्वामित्व' कहते हैं। जो जीव जितने कर्मों को बांध सकता है वह उतने कर्मों के बन्ध का स्वामी कहलाता है॥ १॥

---

* "गइ इंदिए य काये जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भवसम्मे सन्नि आहारे॥ ६॥

(चौथा कर्मग्रन्थ)

† इनको विशेषरूप से जानने के लिये चौथे कर्मग्रन्थ की दसवीं से चौदहवीं तक गाथायें देखो।

" संकेत के लिये उपयोगी प्रकृतियों का
दो गाथाओं में संग्रह । "

जिणसुर विउवाहार दु-देवाउय नरयसुहुम विगलतिगं
एगिंदिथावरायव-नपुमिच्छं हुंडछेवट्टं ॥ २ ॥

जिनसुरवैक्रियाहारकद्विकदेवायुष्कनरकसूक्ष्मविकलत्रिकम् ।
एकेन्द्रियस्थावरातप नपुंमिथ्याहुण्डसेवार्तम् ॥ २ ॥

अणमज्झागिइ संघय-णकुखगनियइत्थिदुहगथीणतिगं
उज्जोयतिरिदुगं तिरि-नराउनरउरलदुगरिसहं ॥ ३ ॥

अनमध्याकृतिसंहनन कुखग नीचस्त्रीदुर्भग स्त्यानर्द्धित्रिकम् ।
उद्योततिर्यग्द्विकं तिर्यग्नरायुर्नरौदारिक द्विक ऋषभम् ॥३॥

अर्थ--जिननामकर्म (१), देव-द्विक—देवगति, देव-आनुपूर्वी-(३), वैक्रिय-द्विक—वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग-(५), आहारकद्विक-आहारकशरीर, आहारकअंगोपांग-(७), देवआयु (८), नरकत्रिक-नरकगति, नरकआनुपूर्वी, नरक आयु-(११), सूक्ष्मत्रिक-सूक्ष्म, अपर्याप्त, और साधारण-नामकर्म-(१४) विकलत्रिक-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय-(१७), एकेन्द्रियजाति (१८), स्थावरनामकर्म (१९), आतपनामकर्म (२०), नपुंसकवेद (२१), मिथ्यात्व (२२), हुण्डसंस्थान (२३), सेवार्तसंहनन (२४) ॥ २ ॥ अनन्तानु-बंधि-चतुष्क—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ

(२८) मध्यमसंस्थान-चतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज–(३२) मध्यमसंहनन-चतुष्क–ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका–(३६), अशुभविहायोगति (३७) नीचगोत्र (३८), स्त्री वेद (३९) दुर्भग-त्रिक–दुर्भग; दुःस्वर, अनादेयनामकर्म–(४२), स्त्यानर्द्धि-त्रिक–निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि—(४५), उद्योतनामकर्म (४६), तिर्यञ्च-द्विक—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चआनुपूर्वी–(४८), तिर्यञ्चआयु (४९), मनुष्य आयु, (५०), मनुष्य-द्विक—मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी–(५२), औदारिक-द्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग–(५४), और वज्रऋषभनाराचसंहनन (५५)। इस प्रकार ५५ प्रकृतियां हुईं ॥ ३ ॥

भावार्थ—उक्त ५५ कर्म प्रकृतियों का विशेष उपयोग इस कर्म–ग्रंथ में संकेत के लिये है। यह संकेत इस प्रकार है:—

किसी अभिमत प्रकृति के आगे जिस संख्या का कथम किया हो, उस प्रकृति से लेकर उतनी प्रकृतियों का ग्रहण उक्त ५५ कर्म प्रकृतियों में से किया जाता है। उदाहरणार्थ—' सुरएकोन-विंशति ' यह संकेत देवद्विक से लेकर आतप-पर्यन्त १९ प्रकृतियों का बोधक है ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

"चौदह मार्गणाओं में से गति मार्गणा को लेकर नरक गति का बन्धस्वामित्व चार गाथाओं से कहते हैं:—"

सुरइगुणवीसवज्जं,इगसउ ओहेण बंधहिं निरया।
तित्थ विणा मिच्छिसयं,सासणि नपु-चउ विणाछनुई ४

सुरैकोनविंशतिवर्जमेकशतमोघेन बध्नन्ति निरयाः।
तीर्थविना।।मिथ्यात्वेशतं सास्वादने नपुँसकचतुष्कं विनाषरणवतिः।।४

अर्थ—नारक जीव, बन्धलोग्य १२० कर्म प्रकृतियों में से १०१ कर्म प्रकृतियों को सामान्यरूप से बाँधते हैं; क्योंकि वे सुरद्विक से लेकर आतपनाकर्म-पर्यन्त १९ प्रकृतियों को नहीं बाँधते। पहले गुणस्थान में वर्त्तमान नारक १०१ में से तीर्थकर नामकर्म को छोड़ शेष १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं।

दूसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक, नपुंसक आदि ४ प्रकृतियों को छोड़ कर उक्त १०० में से शेष ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ।

ओघबन्ध—किसी खास गुणस्थान या खास नरक की विवक्षा किये बिना ही सब नारक जीवों का जो बन्ध कहा जाता है वह उन का 'सामान्य-बन्ध' या 'ओघ-बन्ध' कहलाता है।

विशेषबन्ध—किसी खास गुणस्थान या किसी खास नरक को लेकर नारकों में जो बन्ध कहा जाता है वह उनका 'विशेषबन्ध' कहलाता है। जैसे यह कहना कि मिथ्यात्वगुण-स्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं इत्यादि।

इस तरह आगे अन्य मार्गणाओं में भी सामान्यबन्ध और विशेषबन्ध का मतलब समझ लेना।

नरकगति में सुरद्विक आदि १९ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि जिन स्थानों में उक्त १९ प्रकृतियों का उदय होता है नारक जीव नरकगति में से निकल कर उन स्थानों में नहीं उपजते। वे उदय-स्थान इस प्रकार हैं:—

वैक्रियद्विक, नरकत्रिक, देवत्रिक—इनका उदय देव तथा नारक को होता है। सूक्ष्म नामकर्म सूक्ष्मएकेन्द्रिय में; अप-र्याप्त नामकर्म अपर्याप्त तिर्यंच मनुष्य में; साधारण नामकर्म साधारण वनस्पति में; एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप नामकर्म एकेन्द्रिय में और विकलत्रिक द्वीन्द्रिय आदि में उदयमान होते हैं। तथा आहारक द्विक का उदय चारित्र सम्पन्न लब्धि-धारी मुनि को होता है।

सम्यक्त्वी ही तीर्थङ्कर नाम कर्म के बन्ध के अधिकारी हैं; इसलिये मिथ्यात्वी नारक उसे बाँध नहीं सकते।

नपुंसक, मिथ्यात्व, हुण्ड और सेवार्त इन ४ प्रकृतियों को सास्वादन गुणस्थान वाले नारक जीव बाँध नहीं सकते; क्योंकि उनका बन्ध मिथ्यात्व के उदय काल में होता है, पर मिथ्यात्व का उदय सास्वादन के समय नहीं होता ॥ ४ ॥

विणुअण-छवीस मीसे, बिसयरि संमंमिजिणनराउजुया
इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥ ५ ॥

विनाऽनषड्विंशतिं मिश्रे द्वासप्ततिः सम्यक्त्वे जिननरायुर्युता ।
इति रत्नादिषु भंगः पङ्कादिषु तीर्थंकरहीनः ॥ ५ ॥

अर्थ—तीसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक जीव ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ९६ में से अनन्तानुबन्धि–चतुष्क से ले कर मनुष्य–आयु–पर्यन्त २६ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते। चौथे गुणस्थान में वर्तमान नारक उक्त ७० तथा जिन नामकर्म और मनष्य आयु, इन ७२ प्रकृतियों को बाँधते हैं। इस प्रकार नरकगति का यही सामान्य बंध-विधि रत्नप्रभा आदि तीन नरकों के नारकों को चारों गुणस्थानों में लागू पड़ता है। पंकप्रभा आदि तीन नरकों में भी तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय वही सामान्य बंध-विधि समझना चाहिये ॥ ५ ॥

भावार्थ—पंकप्रभा आदि तीन नरकों का क्षेत्रस्वभाव ही ऐसा है कि जिससे उनमें रहने वाले नारक जीव सम्यक्त्वी होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म को बाँध नहीं सकते। इससे उनको सामान्यरूप से तथा विशेष रूप से-पहले गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७१ का बंध है ॥ ५ ॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इगनवइ सासाणे, तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥ ६ ॥

अजिनमनुजायुरोघे सप्तम्यां नरद्विकोच्चं विना मिथ्यात्वे।
एकनवतिस्सासादने तिर्यगायुर्नपुंसकचतुष्कवर्जम् ॥ ६ ॥

अर्थ—सातवें नरक के नारक, सामान्यरूप से ९९ प्रकृतियों को बाँधते हैं। क्योंकि नरकगति की सामान्य-बंध योग्य १०१ प्रकृतियों में से जिन नामकर्म तथा मनुष्य आयु को वे नहीं बाँधते। उसी नरक के मिथ्यात्वी नारक, उक्त ९९ में से मनुष्य गति, मनुष्य आनुपूर्वी तथा उच्चगोत्र को छोड़, ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं। और सास्वादन गुणस्थान-वर्ती नारक ९१ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि, उक्त, ९६ में से तिर्यंचआयु, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुण्डसंस्थान और सेवार्तसंहनन, इन ५ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते ॥ ६ ॥

सामान्य नरक का तथा रत्नप्रभादि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ[१]	अबन्ध्य-प्रकृतियां[२]	विच्छेद्य-प्रकृतियां[३]	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म	आयुकर्म	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियां.
ओघ से.	१०१	१९	१	५	९	२	२६	२	५०	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१००	२०	४	५	९	२	२६	२	४९	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६	२४	२६	५	९	२	२४	२	४७	२	५	७-८
मिश्र में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८

१ बांधने योग्य. २ नहीं बांधने योग्य. ३ बंध-विच्छेद योग्य. अबन्ध्य और बंधविच्छेद्य में अन्तर यह है कि किसी विवक्षित गुणस्थान की अबन्ध्य प्रकृतियां वे हैं जिनका बंध उस गुणस्थान में नहीं होता जैसे—नरकगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में २० प्रकृतियां अबन्ध्य हैं। परंतु विवक्षित गुणस्थान की बन्ध-विच्छेद्य

पङ्कप्रभा आदि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियां	अबन्ध्य-प्रकृतियां	बन्ध-विच्छेद्य प्रकृतियां.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियां.
ओघ से.	१००	२०	०	५	९	२	२६	२	४९	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१००	२०	४	५	९	२	२६	२	४९	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६	२४	२६	५	९	२	२४	२	४७	२	५	७-८
मिश्र में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में	७१	४९	०	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७-८

प्रकृतियां वे हैं जो उस गुणस्थान में बांधी जाती हैं पर आगे के गुणस्थान में नहीं बांधी जातीं जैसे—नरकगति में मिथ्यात्व गुणस्थान की बन्ध—विच्छेद्य प्रकतियां चार हैं। इसका मतलब यह है कि उन प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में तो होता है पर आगे के गुणस्थान में नहीं।

अणचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।
सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं॥७

अनचतुर्विंशतिविरहिता सनरद्विकोच्चा च सप्ततिर्मिश्रद्विके।
सप्तदशशतमोघे मिथ्यात्वे पर्याप्ततिर्यंचो विना जिनाहारम् ॥७॥

अर्थ—पूर्वोक्त ९१ में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर तिर्यञ्च-द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को निकाल देने पर शेष ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी तथा उच्चगोत्र-तीन प्रकृतियों को मिलाने से कुल ७० प्रकृतियाँ होती हैं। इनको तीसरे तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान सातवें नरक के नारक बांधते हैं। (तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्व) पर्याप्त तिर्यञ्च सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों को बांधते हैं; क्योंकि जिननामकर्म तथा आहारक-द्विक इन तीन प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्व पूर्व नरक से उत्तर उत्तर नरक में अध्यवसायों की शुद्धि इतनी कम हो जाती है कि मनुष्य-द्विक तथा उच्चगोत्ररूप जिन पुण्यप्रकृतियों के बन्धक परिणाम पहले नरक के मिथ्यात्वी नारकों को हो सकते हैं उनके बन्ध योग्य परिणाम सातवें नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थान में असम्भव हैं। सातवें नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वे ही हैं जिनसे कि उक्त तीन प्रकृतियों का बन्ध किया

जा सकता है। अतएव उसमें सब से उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृतियाँ उक्त तीन ही हैं।

यद्यपि सातवें नरक के नारक-जीव मनुष्यआयु को नहीं बाँधते तथापि वे मनुष्यगति तथा मनुष्यआनुपूर्वी-नामकर्म को बाँध सकते हैं। यह नियम नहीं है कि "आयु का बन्ध, गति और आनुपूर्वी नामकर्म के बन्ध के साथ ही होना चाहिये।"

सातवें नरक का बन्धस्वामित्व—यन्त्र

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियां	अबन्ध्य-प्रकृतियां	बन्धविच्छेद-प्र०	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीय कर्म.	मोहनीय कर्म.	आयु कर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूलप्रकृतियां.
ओघसे.	९९	२१	०	५	९	२	२६	१	४९	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	९६	२४	५	५	९	२	२६	१	४७	१	५	७-८
सास्वादन में.	९१	२९	२४	५	९	२	२४	०	४५	१	५	७
मिश्र में	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७

(तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्व) सम्यक्त्वी होते हुये भी तिर्यञ्च अपने जन्म-स्वभाव से ही जिननामकर्म को बाँध नहीं सकते, वे आहारक-द्विक को भी नही बाँधते; इसका कारण यह है कि उसका बंध, चारित्र धारण करने वालों को ही हो सकता है, पर तिर्यञ्च, चारित्र के अधिकारी नहीं हैं। अतएव उनके सामान्य-बंध में उक्त ३ प्रकृतियों की गिनती नहीं की है ॥७॥

बिणु नरयसोल सासणि, सुराउ अणएगतीस विणुमीसे
ससुराउ सयरि संमे, बीयकसाए विणा देसे ॥८॥

विना नरकषोडश सासादने सुरायुरनैकत्रिंशतं विना मिश्रे ।
ससुरायुः सप्ततिः सम्यक्त्वे द्वितीयकषायान्विना देशे ॥ ८ ॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च १०१ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ११७ में से नरकत्रिक से लेकर सेवार्त-पर्यन्त १६ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते। तीसरे गुणस्थान में वे ६९ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त १०१ में से अनन्तानुबंधि—चतुष्क से लेकर वज्रऋषभनाराचसंहनन-पर्यन्त ३१ तथा देव आयु इन ३२ प्रकृतियों का बंध उनको नहीं होता। चौथे गुणस्थान में वे उक्त ६९ तथा देवआयु—कुल ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं। तथा पांचवें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त ७० में से ४ अप्रत्याख्यानावरण कषायों का बंध उनको नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च देवआयु को बाँधते हैं परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान उसे नहीं बाँधते; क्योंकि उस गुणस्थान के समय *आयु बाँधने के योग्य अध्यवसाय ही नहीं होते। तथा उस गुणस्थान में मनुष्यगति-योग्य ६ (मनुष्य-द्विक, औदारिक-द्विक, वज्रऋषभनाराचसंहनन और मनुष्य आयु) प्रकृतियों को भी वे नहीं बाँधते। इसका कारण यह है कि चौथे गुणस्थान की तरह तीसरे गुणस्थान के समय, पर्याप्त मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही देवगति-योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं; मनुष्यगति-योग्य प्रकृतियों को नहीं। इस प्रकार अनन्तानुबंधि-चतुष्क से लेकर २५ प्रकृतियाँ—जिनका बंध तीसरे गुणस्थान में किसी को नहीं होता—उन्हें भी वे नहीं बाँधते। इससे देवआयु १, मनुष्यगति योग्य उक्त ६ तथा अनन्तानुबंधि-चतुष्क आदि २५—सब मिला कर ३२ प्रकृतियों को उपर्युक्त १०१ में से घटा कर शेष ६९ प्रकृतियों का बंध पर्याप्त तिर्यंचों को मिश्रगुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान में उनको देवआयु के बंध का सम्भव होने के कारण ७० प्रकृतियों का बंध माना जाता है।

---

*—"संमा मिच्छद्दिट्ठी आउ बंधंपि न करेइ" इति वचनात्। "मिस्सूणे आउस्सय" इत्यादि (गोम्मटसार—कर्म०—गा० ९२)

परन्तु पांचवें गुणस्थान में उनको ६६ प्रकृतियों का बंध माना गया है; क्योंकि उस गुणस्थान में ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का बंध नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का बंध पांचवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में न होने का कारण यह है कि "कषाय के बंध का कारण कषाय का उदय है।" जिस प्रकार के कषाय का उदय हो उसी प्रकार के कषाय का बंध हो सकता है। अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय पहले चार ही गुणस्थानों में है, आगे नहीं, अतएव उसका बंध भी पहले चार ही गुणस्थानों में होता है ॥८॥

पर्याप्त तिर्यञ्च का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	बन्धविच्छेद्य-प्र०	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूलप्रकृतियाँ.
ओघ से.	११७	३	०	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	११७	३	१६	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७-८
सास्वादन में.	१०१	१९	३२	५	९	२	२४	३	५१	२	५	७-८
मिश्र में.	६९	५१	०	५	६	२	१९	०	३१	१	५	७
अविरत में.	७०	५०	४	५	६	२	१९	१	३१	१	५	७-८
देशविरत में.	६६	५४	०	५	६	२	१५	१	३१	१	५	७-८

मनुष्यगति का बंधस्वामित्व।

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई।
जिण इक्कारस हीणं, नवसउ अपजत्त तिरियनरा ॥९॥

इति चतुर्गुणेष्वपि नराः परमयताः सजिनमोघो देशादिषु ।
जिनैकादशहीनं नवशतमपर्याप्ततिर्यङ्नराः ॥ ९ ॥

अर्थ—पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त मनुष्य, उन्हीं ४ गुणस्थानों में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च के समान प्रकृतियों को बांधते हैं। भेद केवल इतना ही है कि चौथे गुणस्थान वाले पर्याप्त तिर्यञ्च, जिन नाम कर्म को नहीं बांधते पर मनुष्य उसे बांधते हैं। तथा पांचवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में, वर्तमान मनुष्य दूसरे कर्मग्रन्थ में कहे हुये क्रम के अनुसार प्रकृतियों को बांधते हैं। जो तिर्यञ्च तथा मनुष्य अपर्याप्त हैं वे जिन नाम कर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़ कर बन्ध-योग्य १२० प्रकृतियों में से शेष १०९ प्रकृतियों को बांधते हैं॥९॥

भावार्थ—जिस प्रकार पर्याप्त तिर्यञ्च पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे गुणस्थान में ६९ प्रकृतियों को बांधते हैं इसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य भी उन ३ गुणस्थानों में उतनी उतनी ही प्रकृतियों को बांधते हैं। परन्तु

चौथे गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यञ्च ७० प्रकृतियों को बांधते हैं, पर पर्याप्त मनुष्य ७१ प्रकृतियों को; क्योंकि वे जिन नाम कर्म को बांधते हैं लेकिन तिर्यञ्च उसे नहीं बांधते। पांचवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान–पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में जितनी २ बन्ध-योग्य प्रकृतियां दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में कही हुई हैं, उतनी उतनी ही प्रकृतियों को उस उस गुणस्थान के समय पर्याप्त मनुष्य बांधते हैं; जैसे:—पांचवें गुणस्थान में ६७, छट्ठे में ६३, सातवें में ५९ या ५८ इत्यादि।

अपर्याप्त तिर्यञ्च तथा अपर्याप्त मनुष्य को १०९ प्रकृतियों का जो बंध कहा है, वह सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से समझना चाहिये; क्योंकि इस जगह 'अपर्याप्त' शब्द का मतलब लब्धि अपर्याप्त से है, करण अपर्याप्त से नहीं; और लब्धि अपर्याप्त जीव को पहला ही गुणस्थान होता है।

'अपर्याप्त' शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि करण अपर्याप्त मनुष्य, तीर्थङ्कर नाम कर्म को बांध भी सकता है, पर १०९ में उस प्रकृति की गणना नहीं है ॥ ९ ॥

पर्याप्त मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१२०	०	०	५	९	२	२६	४	६७	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	११७	३	१६	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७-८
सास्वादन में.	१०१	१९	३२	५	९	२	२४	३	५१	२	५	७-८
मिश्र में.	६९	५१	०	५	६	२	१९	०	३१	१	५	७
अविरत में.	७१	४९	४	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७-८
देशविरत में.	६७	५३	४	५	६	२	१५	१	३२	१	५	७-८
प्रमत्त में.	६३	५७	६ । ७	५	६	२	११	१	३२	१	५	७-८

अप्रमत्त में.	५९ ५८	६१ ६२	१ ०	५	६	१	९	१ — ०	३१	१	५	७-८
अपूर्व करण में.	५८* ५६ २६	६२ ६४ ६४	२ ३० ४	५	६ ४ ४	१	९	०	३१ ३१ १	१	५	७-८
अनिवृत्ति में.	२२ २१ २० १९ १८	९८ ९९ १०० १०१ १०२	१ १ १ १ १	५	४	१	५ ४ ३ २ १	०	१	१	५	७
सूक्ष्मसम्पराय में.	१७	१०३	१६	५	४	१	०	०	१	१	५	६
उपशान्तमोह में.	१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
क्षीणमोह में.	१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
सयोगिकेवली में.	१	११९	१	०	०	१	०	०	०	०	०	१
अयोगिकेवली में.	०	१२०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

* ५८ का बन्ध पहले भाग में, ५६ का दूसरे से छट्ठे तक पाँच भागों में और २६ का बन्ध सातवें भाग में समझना।

लब्धि अपर्याप्त तिर्यञ्च तथा मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

गुणस्थान.	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ.	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१०९	११	०	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१०९	११	०	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८

'देवगति के बन्धस्वामित्व को दो गाथाओं से कहते हैं:—'

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिग सहिया।
कप्पदुगे विय एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥१०॥

निरया इव सुरा नवरमोघे मिथ्यात्व एकेन्द्रियत्रिक सहिताः।
कल्पद्विकेऽपि चैवं जिनहीनो ज्योतिष भवनवाने ॥१०॥

अर्थ—यद्यपि देवों का प्रकृति-बन्ध नारकों के प्रकृति-बन्ध के समान है, तथापि सामान्य–बन्ध–योग्य और पहले गुण-स्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेष है; क्योंकि एकेन्द्रियजाति, स्थावर तथा आतपनामकर्म इन तीन प्रकृतियों को देव बांधते हैं, पर नारक उन्हें नहीं बांधते। 'सौधर्म' नामक पहले और 'ईशान' नामक दूसरे कल्प (देवलोक) में जो देव रहते हैं, उनका सामान्य तथा विशेष प्रकृति–बन्ध देवगति के उक्त प्रकृति–बन्ध के अनुसार ही है। इस प्रकार ज्योतिष, भवनपति और व्यन्तर निकाय के देव जिननामकर्म के सिवाय और सब प्रकृतियों को पहले दूसरे देव लोक के देवों के समान ही बांधते हैं।

भावार्थ—सामान्य देवगति में तथा पहले दूसरे देव-लोक के देवों को सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०३ दूसरे में ९६ तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बंध होता है।

उपर्युक्त ज्योतिष आदि देवों को सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७१ प्रकृतियों का बंध होता है ॥१०॥

सामान्य-देवगति का तथा पहले दूसरे देवलोक के देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	विच्छेद्य-प्रकृतियां.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१०४	१६	१	५	९	२	२६	२	५३	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१०३	१७	७	५	९	२	२६	२	५२	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६	२४	२६	५	९	२	२४	२	४७	२	५	७-८
मिश्र में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८

भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम.	बन्ध्य-प्रकृतियाँ	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१०३	१७	०	५	९	२	२६	२	५२	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१०३	१७	७	५	९	२	२६	२	५२	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६	२४	२६	५	९	२	२४	२	४७	२	५	७-८
मिश्र में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७१	४९	०	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७-८

रयणु व सणंकुमारा-इ आणयाई उज्जोयचउ रहिया।
अपज्जतिरिय व नवसय मिगिंदिपुढविजलतरुविगले।।११

रत्नवत्सनत्कुमारादय आनतादय उद्योतचतुर्विरहिताः।
अपर्याप्ततिर्यग्वन्नवशतमेकेन्द्रियपृथ्वीजलतरुविकले ।।११।।

अर्थ—तीसरे सनत्कुमार-देवलोक से लेकर आठवें सहस्रार तक के देव, रत्नप्रभा-नरक के नारकों के समान प्रकृति बंध के अधिकारी हैं; अर्थात् वे सामान्यरूप से १०१, मिथ्यात्व-गुणस्थान में १००, दूसरे गुणस्थान में ९६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं। आनत से अच्युत-पर्यन्त ४ देवलोक और ९ ग्रैवेयक के देव उद्योत-चतुष्क के सिवाय और सब प्रकृतियों को सनत्कुमार के देवों के समान बांधते हैं; अर्थात् वे सामान्यरूप से ९७, पहले गुणस्थान में ९६, दूसरे में ९२, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं। (इन्द्रिय और कायमार्गणा का बन्ध-स्वामित्व)—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकायिक, जलकायिक तथा वनस्पतिकायिक जीव, अपर्याप्त तिर्यञ्च के समान जिननाम कर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़कर बंध-योग्य १२० में से शेष १०९ प्रकृतियों को सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में बांधते हैं ।।११।।

भावार्थ—उद्योत-चतुष्क से उद्योतनामकर्म, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चआनुपूर्वी और तिर्यञ्चआयु का ग्रहण होता है।

यद्यपि अनुत्तरविमान के विषय में गाथा में कुछ नहीं कहा है, परंतु समझ लेना चाहिये कि उसके देव सामान्यरूप से तथा चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों के बन्ध के अधिकारी हैं। उन्हें चौथे के सिवाय दूसरा गुणस्थान नहीं होता।

अपर्याप्त तिर्यञ्च की तरह उपर्युक्त एकेन्द्रिय आदि ७ मार्गणाओं के जीवों के परिणाम न तो सम्यक्त्व तथा चारित्र के योग्य शुद्ध ही होते हैं, और न नरक-योग्य अति अशुद्ध ही, अतएव वे जिननामकर्म आदि ११ प्रकृतियों को बांध नहीं सकते ॥ ११ ॥

नववें से लेकर ४ देवलोक तथा नव ग्रैवेयक के देवों का बन्धस्वामित्व—यन्त्र।

गुणस्थानों के नाम.	बन्ध्य-प्रकृतियाँ	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघसे.	९७	२३	१	५	९	२	२६	१	४७	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	९६	२४	४	५	९	२	२६	१	४६	२	५	७-८
सास्वादन में.	९२	२८	२२	५	९	२	२४	१	४४	२	५	७-८
मिश्र में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८

अनुत्तर विमानवासी देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थान.	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ.	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८
अविरत में.	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुणबिंति चउनवइं।
तिरियनराऊहिं विणा, तणुपज्जत्तिं* न ते जंति ॥१२॥

षण्णवतिः सासादने विना सूक्ष्मत्रयोदश केचित्पुनर्बध्नन्ति ।
तिर्यग्नरायुर्भ्यां विना तनुपर्याप्तिं न ते यान्ति ॥१२॥

अर्थ—पूर्वोक्त एकेन्द्रिय आदि जीव दूसरे गुणस्थान में ९६ प्रकृतियों को बांधते हैं, क्योंकि पहले गुणस्थान की बंध योग्य १०९ में से सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्त–पर्यन्त १३ प्रकृतियों को वे नहीं बांधते। कोई आचार्य कहते हैं कि—"ये एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थान के समय तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु को नहीं बांधते, इससे वे उस गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों को ही बांधते हैं। दूसरे गुणस्थान में तिर्यञ्च–आयु तथा मनुष्य आयु बांध न सकने का कारण यह है कि वे एकेन्द्रिय आदि, उस गुणस्थान में रह कर शरीरपर्याप्ति पूरी करने नहीं पाते।" ॥ १२ ॥

---

* "न जंति ज ओ" इत्यपि पाठः।

+ इस गाथा में वर्णन किया हुआ ९६ और ९४ प्रकृतियों के बन्ध का मतभेद प्राचीन बन्धस्वामित्व में है; यथा:—

साणा बंधहिं सोलस, निरतिग हीणा य मोत्तु छन्नउइं।
ओघेण वीसुत्तर—सयं च पंचिंदिया बंधे ॥ २३ ॥

इग विग लिंदी साणा, तणु पज्जत्तिं न जंति जं तेण।
नर तिरयाउ अबंधा, मयं तरेण तु चउणउइं ॥ २४ ॥

भावार्थ—एकेन्द्रिय आदि को अपर्याप्त अवस्था ही में दूसरे गुणस्थान का सम्भव है; क्योंकि जो भवनपति व्यन्तर आदि, मिथ्यात्व से एकेन्द्रिय आदि की आयु बांध कर पीछे से सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं वे मरण के समय सम्यक्त्व को वमते हुए एकेन्द्रिय-आदि-रूप से पैदा होते हैं, उसी समय उनमें सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है।

दूसरे गुणस्थान में वर्तमान एकेन्द्रिय आदि जीवों के बन्धस्वामित्व के विषय में जो मत-भेद ऊपर कहा गया है, उसे समझने के लिये इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है कि "कोई भी जीव इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी किये बिना आयु को बांध नहीं सकता।"

९६ प्रकृतियों का बन्ध मानने वाले आचार्य का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण बन चुकने के बाद जब कि आयु-बंध का काल आता है तब तक सासादन भाव बना रहता है। इसलिये सासादन गुणस्थान में एकेन्द्रिय आदि जीव तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु का बंध कर सकते हैं। परंतु ९४ प्रकृतियों का बंध मानने वाले *आचार्य

---

* ९४ प्रकृतियों का बन्ध मानने वाले आचार्य के विषय में श्री जयसोमसूरि ने अपने गुजराती टबे में लिखा है कि "वे आचार्य श्री चन्द्रसूरि प्रमुख हैं।" उनके पक्ष की पुष्टि के विषय में श्री जीवविजयजी अपने टबे में कहते हैं कि "यह पक्ष युक्त जान पड़ता है। क्योंकि एकेन्द्रिय आदि की जघन्य आयु भी २५६ आवलिका प्रमाण है, उसके दो भाग—अर्थात्

कहते हैं कि सासादन भाव में रहकर इन्द्रिय पर्याप्ति को पूर्ण करने की तो बात ही क्या शरीर पर्याप्ति को भी पूर्ण नहीं कर सकते अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले ही एके-न्द्रिय आदि उपर्युक्त जीव सासादन भाव से च्युत हो जाते हैं। इसलिये वे दूसरे गुणस्थान में रहकर आयु को बांध नहीं सकते ॥ १२ ॥

---

१७१ आवलिकायें बीत चुकने पर आयु-बन्ध का सम्भव है। पर उसके पहले ही सास्वादनसम्यक्त्व चला जाता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट ६ आवलिकायें तक ही रह सकता है। इसलिये सास्वादन-अवस्था में ही शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना मान लिया जाय तथापि उस अवस्था में आयु-बन्ध का किसी तरह सम्भव हो नहीं।" इसी की पुष्टि में उन्होंने औदारिक मिश्र मार्गणा का सास्वादन गुणस्थान-सम्बन्धी ९४ प्रकृतियों के बंध का भी उल्लेख किया है ९६ का बंध मानने वाले आचार्य का क्या अभिप्राय है इसे कोई नहीं जानते। यही बात श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे में कही है। ९४ के बंध का पक्ष विशेष सम्मत जान पड़ता है क्योंकि उस एक ही पक्ष का उल्लेख गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में भी है:—

पुण्णिदरं विगि विगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे।
पज्जत्तिं ण वि पावदि इदि नरतिरियाउगं णत्थि ॥ ११३ ॥

अर्थात् एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में पूर्णेतर—लब्धि अपर्याप्त—के समान बंध होता है। उस एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय में पैदा हुआ सासादन सम्यक्त्वी जीव शरीर पर्याप्ति को पूरा कर नहीं सकता, इससे उसको उस अवस्था में मनुष्य आयु या तिर्यञ्च-आयु का बंध नहीं होता।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थान	बन्ध्य-प्रकृतियाँ	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१०९	११	०	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१०९	११	१३/१५	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६/९४	२४/२६	०	५	९	२	२४	२/०	४७	२	५	७-८

"इस गाथा में पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रसकाय और गतित्रस का बन्धस्वामित्व कह कर १६वीं गाथा तक योग मार्गणा के बन्ध-स्वामित्व का विचार करते हैं।"

ओहु पणिंदितसेगइ-तसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

ओघः पञ्चेन्द्रियत्रसे गतित्रसे जिनैकादश नरत्रिकोच्चं विना।
मनोवचोयोगे ओघ औदारिके नरभंगस्तन्मिश्रे ॥ १३ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में ओघ—बन्धाधिकार के समान—प्रकृतिबन्ध जानना। गतित्रस (तेजःकाय और वायुकाय) में जिनएकादश—जिन नामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११—मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ को छोड़, १२० में से शेष १०५ प्रकृतियों का बन्ध होता है। (योगमार्गणा बन्धस्वामित्व) मनोयोग तथा वचनयोग में अर्थात् मनोयोग वाले तथा मनोयोग सहित वचनयोग वाले जीवों में बन्धाधिकार के समान प्रकृति-बन्ध समझना। औदारिक काययोग में अर्थात् मनोयोग वचनयोग सहित औदारिक काययोग वालों में नरभंग—पर्याप्त मनुष्य के समान बन्ध-स्वामित्व—समझना ॥ १३ ॥

भावार्थ—पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान कहा हुआ है; इसका मतलब यह है कि 'जैसे दूसरे कर्मग्रन्थ में बन्धाधिकार में सामान्यरूप से

१२० और विशेषरूप से–तेरह गुणस्थानों में–क्रम से ११७, १०१, ७४, ७७ इत्यादि प्रकृतियों का बन्ध कहा है, वैसे ही पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में भी सामान्यरूप से १२० तथा तेरह गुणस्थानों में क्रम से ११७, १०१ आदि प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिये।'

इसी तरह आगे भी जिस मार्गणा में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व कहा जाय वहाँ उस मार्गणा में जितने गुणस्थानों का सम्भव हो, उतने गुणस्थानों में बन्धाधिकार के अनुसार बन्धस्वामित्व समझ लेना चाहिये।

गतित्रस। † शास्त्र में त्रस जीव दो प्रकार के माने जाते हैं:—एक तो वे, जिन्हें त्रसनामकर्म का उदय भी रहता है और जो चलते-फिरते भी हैं। दूसरे वे, जिनको उदय तो स्थावर नाम-कर्म का होता है, पर जिन में गति-क्रिया पाई जाती है। ये दूसरे प्रकार के जीव 'गतित्रस' या '* सूक्ष्मत्रस' कहलाते हैं।

इन गतित्रसों में १०५ प्रकृतियों का बंधस्वामित्व कहा हुआ है, सो सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से; क्योंकि उनमें पहला गुणस्थान ही होता है। उनके बंधस्वामित्व में जिन-एकादश आदि उपर्युक्त १५ प्रकृतियों के न गिनने का कारण यह है कि वे गतित्रस मर कर केवल तिर्यञ्चगति में जाते हैं,

---

१ † उत्तराध्ययन अ० ३६, गा० १०७

२ * यथा—"सुहुमतसा ओघ थूल तसा" (प्राचीन बन्धस्वामित्व गा० २५

अन्य गतियों में नहीं। परन्तु उक्त १५ प्रकृतियाँ तो मनुष्य, देव या नरक गति ही में उदय पाने योग्य हैं।

यद्यपि गाथा में 'मणवयजोगे' तथा 'उरले' ये दोनों पद सामान्य हैं, तथापि 'ओहो' और 'नरभंगु' शब्द के सन्निधान से टीका में 'वयजोग का' मतलब मनोयोग-सहित वचन योग और 'उरल' का मतलब मनोयोग वचन-योग सहित औदारिक काययोग—इतना रक्खा गया है; इस लिये अर्थ भी टीका के अनुसार ही कर दिया गया है। परन्तु 'वय-जोग' का मतलब केवल वचनयोग और 'उरल' का मतलब केवल औदारिक काययोग रख कर भी उसमें बन्धस्वामित्व का विचार किया हुआ है; सो इस प्रकार है कि केवल वचनयोग में तथा केवल औदारिक काययोग में विकलेन्द्रिय या एकेन्द्रिय के समान बन्धस्वामित्व है अर्थात् सामान्यरूप से तथा पहिले गुण-स्थान में १०९ और दूसरे गुणस्थान में ९६ या ९४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

योग का, तथा उसके मनोयोग आदि तीन मूल भेदों का और सत्य मनोयोग आदि १५ उत्तर भेदों का स्वरूप चौथे कर्मग्रन्थ की गाथा ९, १०, और २४ वीं से जान लेना ॥ १३ ॥

आहारछगविणोहे,चउदससउ मिच्छि जिणपणमहीणं।
सासणि चउनवइ विणा,नरतिरिआऊ* सुहुमतेर॥१४

आहारषट्कं विनौघे चतुर्दशशतं मिथ्यात्वे जिनपञ्चक हीनम्।
सासादने चतुर्नवतिर्विना नरतिर्यगायुः सूक्ष्मत्रयोदश ॥ १४ ॥

अर्थ—(पिछली गाथा से 'तम्मिसे' पद लिया जाता है) औदारिक मिश्रकाययोग में सामान्यरूप से ११४ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि आहारक-द्विक, देवआयु और नरकत्रिक इन छह प्रकृतियों का बन्ध उसमें नहीं होता। उस योग में पहले गुणस्थान के समय जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैक्रिय-द्विक इन पांच के सिवाय उक्त ११४ में से शेष †१०९ प्रकृतियों का बन्ध

---

* "तिरिअनराऊ इत्यपि पाठः"

† मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन १०६ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व औदारिकमिश्रकाययोग में माना जाता है, उनमें तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु भी परिगणित है। इस पर श्रीजीवविजयजी ने अपने टबे में संदेह किया है कि "औदारिकमिश्रकाययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त ही रहता है, आगे नहीं; और आयुबन्ध शरीरपर्याप्ति और इन्द्रिय-पर्याप्ति पूरी हो जाने के बाद होता है, पहले नहीं। अतएव औदारिक मिश्रकाययोग के समय अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व में, आयु-बन्ध का किसी तरह सम्भव नहीं। इसलिये उक्त दो आयुओं का १०६ प्रकृतियों में परिगणन विचारणीय है।" यह संदेह शिलांकआचार्य के मत को लेकर ही किया है, क्योंकि वे औदारिकमिश्रकाययोग को शरीर पर्याप्तिपूर्ण बनने तक ही मानते हैं। परन्तु उक्त संदेह का निरसन इस प्रकार किया जा सकता है:—

होता है। और दूसरे गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि मनुष्यआयु, तिर्यंचआयु तथा सूक्ष्मत्रिक से लेकर

पहले तो यह नियम नहीं है कि शरीरपर्याप्ति पूरी होने पर्यन्त ही औदारिकमिश्रकाययोग मानना, आगे नहीं। **श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी** की जिस "जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो। तेण परं मीसेणं जाव सरीर निफ्फत्ती ॥ १ ॥" उक्ति के आधार से औदारिक मिश्रकाय-योग का सद्भाव शरीरपर्याप्ति की पूर्णता तक माना जाता है। उस उक्ति के 'सरीर निफ्फत्ती' पद का यह भी अर्थ हो सकता है कि शरीर पूर्ण बन जाने पर्यन्त उक्त योग रहता है। शरीर की पूर्णता केवल शरीर-पर्याप्ति के बन जाने से नहीं हो सकती। इसके लिये जीव को अपने अपने योग्य सभी पर्याप्तियों का बन जाना आवश्यक है। स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने ही से शरीर का पूरा बन जाना माना जा सकता है। 'सरीर निफ्फत्ती' पद का यह अर्थ मनःकल्पित नहीं है। इस अर्थ का समर्थन श्री देवेन्द्रसूरि ने स्वरचित चौथे कर्मग्रन्थ की चौथी गाथा के 'तणुपज्जेसु उरलमन्ने' इस अंश की टीका में किया है। वह इस प्रकार है:—

'यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापीन्द्रियोच्छ्वासादीना-मद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वादत एवकार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वादौदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानमिति।' जब यह भी पक्ष है कि 'स्वयोग्य सब पर्याप्तियाँ पूरी हो जाने पर्यन्त औदारिक मिश्रकाययोग रहता है' तब उक्त संदेह को कुछ भी अवकाश नहीं है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकने के बाद जब कि आयु-बन्ध का अवसर आता है तब भी औदारिकमिश्रकाययोग तो रहता ही है।

सेवार्त-पर्यन्त १३-कुल १५ प्रकृतियों का बन्ध उसमें नहीं होता ॥ १४ ॥

इसलिये औदारिकमिश्रकाययोग में मिथ्यात्व गुणस्थान के समय उक्त दो आयुओं का बन्धस्वामित्व माना जाता है सो उक्त पक्ष की अपेक्षा से युक्त ही है। मिथ्यात्व के समय उक्त दो आयुओं का बन्धस्वामित्व औदारिक मिश्रकाययोग में, जैसा कर्मग्रन्थ में निर्दिष्ट है वैसा ही गोम्मटसार में भी। यथा:—

"ओराले वा मिस्से णहि सुरणिरयाउहारणिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं णहि अविरदे अत्थि॥"

[कर्मकाण्ड० गाथा ११६]

अर्थात् "औदारिक मिश्रकाययोग का बन्धस्वामित्व औदारिक काययोग के समान ही है। विशेष इतना ही है कि देव आयु नरक आयु, आहारक-द्विक और नरकद्विक-इन छह प्रकृतियों का बन्ध औदारिक मिश्र काययोग में नहीं होता तथा उसमें मिथ्यात्व के और सास्वादन के समय देवचतुष्क व जिननाम कर्म इन ५ का बन्ध नहीं होता, पर अविरतसम्यग्दृष्टि के समय उनका बन्ध होता है।"

उपर्युक्त समाधान की पुष्टि श्री जयसोमसूरि के कथन से भी होती है। उन्होंने अपने टबे में लिखा है कि "यदि यह पक्ष माना जाय कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक ही औदारिकमिश्रकाययोग रहता है तो मिथ्यात्व में तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु का बन्ध कथमपि नहीं हो सकता; इसलिये इस पक्ष की अपेक्षा से उस योग में सामान्यरूप से ११२ और मिथ्यात्व में १०७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।" इस कथन से, स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने पर्यन्त औदारिक मिश्रकाययोग रहता है-इस दूसरे पक्ष की सूचना स्पष्ट होती है।

अणचउवीसाइविणा, जिणपणजुयसंमिजोगिणो साय।
विणु तिरिनराउकम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

अनचतुर्विंशतिं विना जिनपञ्चकयुताः सम्यक्त्वे योगिनः सातम्
विना तिर्यङ्नरायुः कार्मणेप्येवमाहारकद्विक ओघः ॥ १५ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ९४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर तिर्यञ्च-द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को घटा कर शेष ७० में जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैक्रिय-द्विक इन ५ प्रकृतियों के मिलाने से ७५ प्रकृतियां होती हैं; * इनका बन्ध औदारिकमिश्रकाययोग में चौथे गुणस्थान के

---

* चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्रकाययोग में जिन ७५ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व कहा है, उनमें मनुष्यद्विक, औदारिक-द्विक और प्रथम संहनन—इन ५ प्रकृतियों का समावेश है। इस पर श्री जीवविजय जी महाराज ने अपने टबे में संदेह उठाया है कि "चौथे गुणस्थान में औदारिक मिश्रकाययोगी उक्त ५ प्रकृतियों को बाँध नहीं सकता। क्योंकि तिर्यंच तथा मनुष्य के सिवाय दूसरों में उस योग का सम्भव नहीं है और तिर्यञ्च मनुष्य उस गुणस्थान में उक्त ५ प्रकृतियों को बाँध ही नहीं सकते। अतएव तिर्यंच गति तथा मनुष्य गति में चौथे गुणस्थान के समय जो क्रम से ७० तथा ७१ प्रकृतियों का बन्ध स्वामित्व कहा गया है, उसमें उक्त ५ प्रकृतियाँ नहीं आतीं।" इस संदेह का निवारण श्री जयसोमसूरि ने किया है:—

वे अपने टबे में लिखते हैं कि, "गाथागत 'अणचउवीसाइ' इस पद का अर्थ अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ—यह नहीं करना, किन्तु 'आइ' शब्द से और भी ५ प्रकृतियां लेकर, अनन्तानुबन्धी आदि २४ तथा मनुष्यद्विक आदि ५, कुल २९ प्रकृतियाँ—यह अर्थ

समय होता है। तेरहवें गुणस्थान के समय उस योग में केवल सातवेदनीय का बन्ध होता है। कार्मणकाययोग में तिर्यञ्चआयु और नरआयु के सिवाय और सब प्रकृतियों का बन्ध औदारिकमिश्रकाययोग के समान ही है। आहारक-द्विक में आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग में सामान्य तथा विशेषरूप से ६३ प्रकृतियों के ही बन्ध की योग्यता है॥ १५॥

करना। ऐसा अर्थ करने से उक्त संदेह नहीं रहता। क्योंकि ६४ में से २६ घटाकर शेष ६५ में जिनपंचक मिलाने से ७० प्रकृतियां होती हैं जिनका कि बन्धस्वामित्व उस योग में उक्त गुणस्थान के समय किसी तरह विरुद्ध नहीं है।" यह समाधान प्रामाणिक जान पड़ता है। इसकी पुष्टि के लिये पहले तो यह कहा जा सकता है कि मूल गाथा में 'पचहत्तर' संख्या का बोधक कोई पद ही नहीं है। दूसरे श्री दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी द्वितीय गुणस्थान में २६ प्रकृतियों का विच्छेद मानते हैं:—

"पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो।"
[गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गा० ११७]

यद्यपि टीका में ७५ प्रकृतियों के बन्ध का निर्देश स्पष्ट किया है:— 'प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादि चतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादि, प्रकृतिपंचकयुता च पंचसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति' तथा बन्धस्वामित्व नामक प्राचीन तीसरे कर्मग्रन्थ में भी गाथा (२८-२६) में ७५ प्रकृतियों के ही बन्ध का विचार किया है, तथापि जानना चाहिए कि उक्त टीका, मूल कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि की नहीं है और टीका-

भावार्थ—पूर्व गाथा तथा इस गाथा में मिला कर पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन ४ गुणस्थानों में औदारिकमिश्र-काययोग के बन्धस्वामित्व का विचार किया गया है, सो कार्म-ग्रन्थिक मत के अनुसार; क्योंकि सिद्धान्त के मतानुसार तो उस योग में और भी दो (पाँचवां, छठा) गुणस्थान माने जाते हैं। वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर का आरम्भ करने के समय अर्थात् पाँचवें–छठे गुणस्थान में और आहारकलब्धि

कार ने इस विषय में कुछ शंका-समाधान नहीं किया है; इसी प्रकार प्राचीन बन्धस्वामित्व की टीका में भी श्री गोविन्दाचार्य ने न तो इस विषय में कुछ शंका उठाई है और न समाधान ही किया है। इससे जान पड़ता है कि यह विषय योहीं बिना विशेष विचार किये परम्परा से मूल तथा टीका में चला आया है। इस पर और कार्मग्रन्थिकों को बिचार करना चाहिये। तब तक श्री जयसोमसूरि के समाधान को महत्व देने में कोई आपत्ति नहीं।

तिर्यंच तथा मनुष्यही औदारिकमिश्रकाययोगी हैं और वे चतुर्थ गुण स्थान में क्रम से ७० तथा ७१ प्रकृतियों को यद्यपि बाँधते हैं तथापि औदारिक-मिश्रकाययोग में चतुर्थ गुणस्थान के समय ७१ प्रकृतियों का बन्ध न मान कर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन इसलिये किया जाता है कि उक्त योग अपर्याप्त अवस्था ही में पाया जाता है। अपर्याप्त अवस्था में तिर्यंच या मनुष्य कोई भी देवायु नहीं बांध सकते। इससे तिर्यंच तथा मनुष्य की बन्ध्य प्रकृतियों में देवआयु परिगणित है पर औदारिकमिश्र-काययोग की बन्ध्य प्रकृतियों में से उसको निकाल दिया है।

से आहारक शरीर को रचने के समय अर्थात् छट्ठे गुणस्थान में औदारिकमिश्रकाययोग सिद्धान्त में + माना है।

औदारिकमिश्रकाययोग में ४ गुणस्थान मानने वाले कार्मग्रन्थिक विद्वानों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि 'कार्मण शरीर और औदारिकशरीर दोनों की मदद से होने वाले योग को 'औदारिकमिश्रकाययोग' कहना चाहिये जो

+ इस मत की सूचना चौथे कर्मग्रन्थ में "सासण भावे नाणं, विउव्व गाहारगे उरलमिस्सं।" गाथा ४६ वीं में है, जिसका खुलासा इस प्रकार है:-

"यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धि-सम्पन्नो मनुष्यः पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिक शरीरयोग एव वर्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलाना-दाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्ति न गच्छति तावद्वैक्रियेण मिश्रता, व्यपदेश औदारिकस्य, प्रधानत्वात्। एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या, आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेश इति।"

अर्थात् औदारिकशरीर वाला--वैक्रियलब्धिधारक मनुष्य, पंचेन्द्रिय। तिर्यंच या बादरपर्याप्त वायुकायिक जिस समय वैक्रिय शरीर रचता है उस समय वह, औदारिक शरीर में रहता हुआ अपने प्रदेशों को फैला कर, और वैक्रिय शरीर-योग्य पुद्गलों को लेकर जब तक वैक्रिय शरीर-पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता है, तब तक उसके औदारिककाययोग की वैक्रियशरीर के साथ मिश्रता है, परन्तु व्यवहार औदारिक को लेकर औदारिक-मिश्रता का करना चाहिये; क्योंकि उसी की प्रधानता है। इसी प्रकार आहारक शरीर करने के समयभी उसकेसाथ औदारिक काययोग की मिश्रता को जानलेनाचाहिये।

पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन ४ गुणस्थानों ही में पाया जा सकता है।' पर सैद्धान्तिकों का आशय यह है कि जिस प्रकार कार्मण शरीर को लेकर औदारिक-मिश्रता मानी जाती है, इसी प्रकार लब्धिजन्य वैक्रियशरीर या आहारक शरीर के साथ भी औदारिक शरीर की मिश्रता मान कर औदारिकमिश्र काययोग मानने में कुछ बाधा नहीं है।

कार्मणकाययोग वाले जीवों में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां ये ४ गुणस्थान पाये जाते हैं। इनमें से तेरहवां गुणस्थान केवलसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में केवलि भगवान् को होता है। शेष तीन गुणस्थान अन्य जीवों को अन्तराल गति के समय तथा जन्म के प्रथम समय में होते हैं।

कार्मण काययोग का बन्धस्वामित्व, औदारिकमिश्रकाययोग के समान है, पर इसमें तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु का बन्ध नहीं हो सकता। अतएव इसमें सामान्यरूप से ११२, पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ९४, चौथे में * ७५ और तेरहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्ध होता है।

---

* यद्यपि कार्मण काययोग का बन्धस्वामित्व औदारिकमिश्रकाययोग के समान कहा गया है और चतुर्थ गुणस्थान में औदारिकमिश्रकाययोग में ७५ प्रकृतियों के बन्ध पर शंका उठाकर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन किया गया है तथापि कार्मणकाययोग में चतुर्थ गुण-

आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययोग दोनों छट्ठे ही गुणस्थान में पाये जा सकते हैं, इस लिये उनमें उस गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६३ † प्रकृतियों ही का बन्धस्वामित्व दर्साया गया है ॥ १५ ॥

स्थान के समय पूर्वोक्त शंका समाधान की कोई आवश्यकता नहीं; क्यों कि औदारिकमिश्रकाययोग के अधिकारी तिर्यंच तथा मनुष्य ही हैं जोकि मनुष्य-द्विक आदि ५ प्रकृतियों को नहीं बांधते; परन्तु कार्मणकाययोग के अधिकारी मनुष्य तथा तिर्यंच के अतिरिक्त देव तथा नारक भी हैं जोकि मनुष्य-द्विक से लेकर वज्रऋषभनाराचसंहनन तक ५ प्रकृतियों को बांधते हैं। इसीसे कार्मण काययोग की चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धिनी बन्ध्य ७५ प्रकृतियों में उक्त पांच प्रकृतियों की गणना है।

† यथाः—"तेवट्ठाहारदुगे जहा पमत्तस्स" इत्यादि।

[प्राचीन बन्धस्वामित्व, गा० ३२]

किन्तु आहारकमिश्रकाययोग में देवआयु का बन्ध गोम्मटसार नहीं मानता, इससे उसके मतानुसार उस योगमें ६२ प्रकृतियों ही का बन्ध होता है। यथाः—

"छट्ठगुणं वाहारे, तम्मिस्से णत्थि देवाऊ।"

[कर्मकाण्ड, गा० ११८]

अर्थात् आहारक काययोग में छट्ठे गुणस्थान की तरह बन्धस्वामित्व है, परन्तु आहारकमिश्रकाययोग में देवायु का बन्ध नहीं होता।

सुरओहो वेउव्वे, तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से।
वेयतिगाइम बियतिय-कसाय नवदुचउपंचगुणे॥१६॥

सुरौघो वैक्रिये तिर्यङ्नरायूरहितश्च तन्मिश्रे।
वेद-त्रिकादिमद्वितीयतृतीयकषाया नवद्विचतुष्पञ्चगुणे ॥ १६ ॥

अर्थ—वैक्रियकाययोग में देवगति के समान बन्धस्वामित्व है। वैक्रियमिश्रकाययोग में तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध वैक्रियकाययोग के समान है। (वेद और कषाय मार्गणा का बन्धस्वामित्व) तीन वेद में ९ गुणस्थान हैं। आदिम–पहले ४ अनन्तानुबन्धी कषायों में पहला दूसरा दो गुणस्थान हैं। दूसरे–अप्रत्याख्यानावरण–कषायों में पहिले ४ गुणस्थान हैं। तीसरे–प्रत्याख्यानावरण–कषायों में पहिले ५ गुणस्थान हैं॥ १६ ॥

भावार्थ—वैक्रियकाययोग। इसके अधिकारी देव तथा नारक ही हैं। इससे इसमें गुणस्थान देवगति के समान ४ ही माने हुए हैं और इसका बन्धस्वामित्व भी देवगति के समान ही अर्थात् सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का है।

वैक्रियमिश्रकाययोग। इसके स्वामी भी देव तथा नारक ही हैं, पर इसमें आयु का बन्ध असम्भव है; क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था ही में देवों तथा नारकों को होता है, लेकिन देव तथा नारक पर्याप्त अवस्था में, अर्थात् ६ महीने

प्रमाण आयु बाकी रहने पर ही, आयु-बन्ध करते हैं। इसीसे इस योग में तिर्यञ्चआयु और मनुष्य आयु के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व वैक्रिय काययोग के समान कहा गया है।

वैक्रियमिश्रकाययोग में वैक्रिय काययोग से एक भिन्नता और भी है। वह यह है कि उसमें चार गुणस्थान हैं पर इसमें * तीन ही; क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था ही में होता है इससे इसमें अधिक गुणस्थान असम्भव हैं। अतएव इसमें सामान्यरूप से १०२, पहिले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ९६ और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान + अम्बड परिव्राजक आदि ने तथा छट्ठे गुणस्थान में वर्तमान विष्णुकुमार आदि मुनि ने वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर किया था—यह बात शास्त्र में प्रसिद्ध है। इससे यद्यपि वैक्रिय काययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग का पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान में होना सम्भव है, तथापि वैक्रियकाययोग वाले जीवों को पहिले

---

* [प्राचीन बन्धस्वामित्व-टीका पृ० १०६]—

"मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्मम्मि अहव गहियम्मि
जंति जिया परलोए, सेसेक्कारसगुणे मोत्तुं ॥ १ ॥

अर्थात् जीव मर कर परलोक में जाते हैं, तब वे पहले, दूसरे या चौथे गुणस्थान को ग्रहण किये हुये होते हैं, परन्तु इन तीन के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों को ग्रहण कर परलोक के लिये कोई जीव गमन नहीं करता। + (औपपातिक सूत्र पृ० ९६)

चार ही और वैक्रियमिश्रकाययोग वाले जीवों को पहिला, दूसरा और चौथा ये तीन ही गुणस्थान बतलाये गये हैं, इसका कारण यह जान पड़ता है कि 'लब्धि-जन्य वैक्रिय शरीर की अल्पता (कमी) के कारण उससे होने वाले वैक्रिय काययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग की विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। किन्तु उन्होंने केवल भव-प्रत्यय वैक्रिय शरीर को लेकर ही वैक्रियकाययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग में क्रम से उक्त चार और तीन गुणस्थान बतलाये हैं।'

* **वेद**। इनमें ९ गुणस्थान माने जाते हैं, सो इस अपेक्षा से कि तीनों प्रकार के वेद का उदय नववें गुणस्थान तक ही होता है, आगे नहीं। इसलिये नवों गुणस्थानों में वेद का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार की तरह—अर्थात् सामान्यरूप से १२०, पहिले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छट्ठे में ६३, सातवें में ५८, या ५९, आठवें में ५८, ५६ तथा २६ और नववें गुणस्थान में २२ प्रकृतियों का है।

---

* वेद मार्गणा से लेकर आहारक मार्गणा, जो १६वीं गाथा में निर्दिष्ट है, वहां तक सब मार्गणाओं में यथासम्भव गुणस्थान ही का कथन किया गया है—बन्धस्वामित्व का जुदा जुदा कथन नहीं किया है। परंतु १६ वीं गाथा के अंत में "नियनिय गुणो हो" यह पद है उसकी अनुवृत्ति करके उक्त सब वेद आदि मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का कथन भावार्थ में कर दिया है। 'नियनिय गुणो हो' इस पद का मतलब यह है कि वेद आदि मार्गणाओं का अपने अपने गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व ओघ—बन्धाधिकार के समान समझना।

अनन्तानुबन्धी कषाय । इनका उदय पहले, दूसरे दो गुणस्थानों ही में होता है, इसी से इनमें उक्त दो ही गुणस्थान माने जाते हैं। उक्त दो गुणस्थान के समय न तो सम्यक्त्व होता है और न चारित्र। इसी से तीर्थङ्कर नामकर्म (जिसका बन्ध सम्यक्त्व से ही हो सकता है) और आहारक-द्विक (जिसका बन्ध चारित्र से ही होता है)—ये तीन प्रकृतियां अनन्तानुबन्धि-कषाय वालों के सामान्य बन्ध में से बर्जित हैं। अतएव वे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय । इनका उदय ४ गुणस्थान पर्यन्त ही होने के कारण इनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं। इन कषायों के समय सम्यक्त्व का सम्भव होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो सकता है, पर चारित्र का अभाव होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता। अतएव इन कषायों में सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७५ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

प्रत्याख्यानावरण कषाय । ये ५ गुणस्थान-पर्यन्त उदयमान रहते हैं, इससे इनमें पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं। इन कषायों के समय भी सर्व-विरति चारित्र न होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता, पर तीर्थंकर नामकर्म का

बन्ध हो सकता है। इसी से इनमें भी सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७ और पाँचवें में ६७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व जानना ॥ १६ ॥

संजलणतिगे नव दस, लोहे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचऊ॥१७

संज्वलनत्रिके नव दश लोभे चत्वार्ययते द्वे त्रीण्यज्ञानात्रिके।
द्वादशाऽचक्षुश्चक्षुषोःप्रथमानि यथाख्याते चरम चत्वारि ॥१७॥

अर्थ—संज्वलन-त्रिक (संज्वलन क्रोध, मान, माया) में ९ गुणस्थान हैं। संज्वलन लोभ में १० गुणस्थान हैं। (संयम, ज्ञान, और दर्शन मार्गणा का बन्धस्वामित्व)—अविरति में ४ गुणस्थान हैं। अज्ञान-त्रिक में—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान में—दो या तीन गुणस्थान हैं। अचक्षुदर्शन और चक्षुर्दर्शन में पहिले १२ गुणस्थान हैं। यथाख्यातचारित्र में अन्तिम ४ अर्थात् ग्यारहवें से चौदहवें तक गुणस्थान हैं॥१७॥

भावार्थ—

संज्वलन। ये कषाय ४ हैं। जिनमें से क्रोध, मान और माया में ९ तथा लोभ में १० गुणस्थान हैं। इन चारों कषायों का वन्धस्वामित्व सामान्यरूप से और विशेषरूप से अपने अपने गुणस्थानों में-बन्धाधिकार के समान ही है।

अविरति। इसमें पहले ४ गुणस्थान हैं। जिनमें से चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म के बन्ध का सम्भव है, परन्तु आहारकद्विक का बन्ध—जोकि संयम-सापेक्ष है–इसमें नहीं हो सकता। इस लिये अविरति में सामान्यरूप से आहारकद्विक के सिवाय ११८, पहले गुण-स्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

अज्ञान-त्रिक। इसमें दो या तीन गुणस्थान हैं। इस लिये इसके सामान्यबन्ध में से जिन नामकर्म और आहारक-द्विक, ये तीन प्रकृतियाँ कम कर दी गई हैं; जिससे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे में ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

अज्ञान-त्रिक में दो या तीन गुणस्थान * माने जाने का आशय यह है कि 'तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीवों की दृष्टि न तो सर्वथा शुद्ध होती है और न सर्वथा अशुद्ध, किन्तु किसी अंश में शुद्ध तथा किसी अंश में अशुद्ध-मिश्र-होती है। इस मिश्र दृष्टि के अनुसार उन जीवों का ज्ञान भी मिश्र रूप–किसी

---

* इसका और भी खुलासा चौथे कर्मग्रन्थ में बीसवीं गाथा की व्याख्या में देखो।

अंश में ज्ञानरूप तथा किसी अंश में अज्ञानरूप—माना जाता है। जब * दृष्टि की शुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में ज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की अशुद्धि की कमी के कारण अज्ञानत्व की मात्रा कम, तब उस मिश्रज्ञान को ज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती ज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले और दूसरे दो गुणस्थान के सम्बन्धी जीव ही अज्ञानी समझने चाहिये। पर जब दृष्टि की अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में अज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की शुद्धि की कमी के कारण ज्ञानत्व की मात्रा कम, तब उस मिश्रज्ञान को अज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती अज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले, दूसरे और तीसरे इन तीनों गुणस्थानों के सम्बन्धी जीव अज्ञानी समझने चाहिये। चौथे से लेकर आगे के सब गुणस्थानों के समय सम्यक्त्व-गुण के प्रकट होने से जीवों की दृष्टि शुद्ध ही होती है—अशुद्ध नहीं, इसलिये उन जीवों का ज्ञान ज्ञानरूप ही (सम्यग्ज्ञान) माना जाता है, अज्ञान नहीं। किसी के ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय, उसकी दृष्टि (श्रद्धात्मक परिणाम) की शुद्धि या अशुद्धि पर निर्भर है।'

---

* जो, मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टि में मिथ्यात्वांश अधिक होने से अशुद्धि विशेष रहती है, और जो, सम्यक्त्व को छोड़ तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टि में सम्यक्त्वांश अधिक होने से शुद्धि विशेष रहती है।

अचक्षुर्दर्शन और चक्षुर्दर्शन । इन में पहले १२ गुणस्थान हैं । इनका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से या प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है ।

यथाख्यातचारित्र । इसमें अन्तिम ४ गुणस्थान हैं । उनमें से चौदहवें गुणस्थान में तो योग का अभाव होने से बन्ध होता ही नहीं । ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में बन्ध होता है, पर सिर्फ़ सातवेदनीयका । इस लिये इस चारित्र में सामान्य और विशेषरूप से एक प्रकृति ही का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये ॥ १७ ॥

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउदुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमा-ऽजयाइनव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

मनोज्ञाने सप्त यतादीनि सामायिकच्छेदे चत्वारि द्वे परिहारे ।
केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि नव मतिश्रुतावधिद्विके ॥१८॥

अर्थ—मनःपर्यायज्ञान में यत–प्रमत्तसंयत–आदि ७ अर्थात् छट्ठे से बारहवें तक गुणस्थान है । सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि ४ गुणस्थान हैं । परिहारविशुद्धचारित्र में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान हैं । केवल-द्विक में अन्तिम दो गुणस्थान हैं । मतिज्ञान श्रुतज्ञान, और अवधि-द्विक में अयत-अविरतसम्यग्दृष्टि-आदि ९ अर्थात् चौथे से बारहवें तक गुणस्थान हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—

मनःपर्यायज्ञान। इसका आविर्भाव तो सातवें गुणस्थान में होता है, पर इसकी प्राप्ति होने के बाद मुनि, प्रमाद-वश छट्ठे गुणस्थान को पा भी लेता है। इस ज्ञान को धारण करने वाला, पहले पाँच गुणस्थानों में वर्तमान नहीं रहता। तथा अन्तिम दो गुणस्थानों में भी यह ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में क्षायिकज्ञान होने के कारण किसी क्षायोपशमिक ज्ञान का सम्भव ही नहीं है। इसलिये मनःपर्याय ज्ञान में उपर्युक्त ७ गुणस्थान माने हुये हैं। इसमें आहारकद्विक के बन्ध का भी सम्भव है। इसीसे इस ज्ञान में सामान्यरूप से ६५ और छट्ठे से बारहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय। ये दो संयम छट्ठे आदि ४ गुणस्थान पर्यन्त पाये जाते हैं। इसलिये इनके समय आहारक द्विक के बन्ध का सम्भव है। अतएव इन संयमों का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और छट्ठे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही है।

परिहारविशुद्धिकसंयम। इसे धारण करनेवाला सातवें से आगे के गुणस्थानों को नहीं पा सकता। इस संयम के समय यद्यपि

अहारक-द्विक* का उदय नहीं होता, पर उसके बन्ध का सम्भव है। इसलिये इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और विशेषरूप से बन्धाधिकार के समान-अर्थात् छट्ठे गुणस्थान में ६३, सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का है।

केवलद्विक। इसके दो गुणस्थानों में से चौदहवें में तो बन्ध होता ही नहीं, तेरहवें में होता है पर सिर्फ सातवेदनीय का। इसलिये इसका सामान्य तथा विशेष बन्धस्वामित्व एक ही प्रकृति का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और **अवधिद्विक**। इन ४ मार्गणाओं में पहले तीन गुणस्थान तथा अन्तिम दो गुणस्थान नहीं होते; क्योंकि प्रथम तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व न होने से अज्ञान माना जाता है, और अन्तिम दो गुणस्थानों में ज्ञान होता है सही पर वह क्षायिक, क्षायोपशमिक नहीं। इसी कारण इनमें उपर्युक्त ९ गुणस्थान माने हुये हैं। इन ४ मार्गणाओं में भी आहारकद्विक के बंध का सम्भव होने के कारण सामान्यरूप से ७९ प्रकृतियों का और चौथे से बारहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बंधाधिकार के समान बंधस्वामित्व जानना ॥ १८ ॥

---

* परिहारविशुद्ध संयमी को दस पूर्व का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इससे उसको आहारक-द्विक का उदय असंभव है; क्योंकि इसका उदय चतुर्दशपूर्वधारी जो कि आहारक शरीर को बना सकता है—उसी को होता है।

" दो गाथाओं से सम्यक्त्व मार्गणा का बंधस्वामित्व । "

अडउवसमि चउवेयगि, खइयेइक्कार मिच्छतिगिदेसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥१९

अष्टोपशमे चत्वारि वेदके क्षायिक एकादश मिथ्यात्वत्रिके देशे ।
सूक्ष्मे स्वस्थानं त्रयोदशाऽऽहारके निजनिजगुणौघः ॥१९॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में आठ–चौथे से ग्यारहवें तक गुणस्थान हैं। वेदक (क्षायोपशमिक) में ४ गुणस्थान–चौथे से सातवें तक–हैं। मिथ्यात्व-त्रिक में (मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्रदृष्टि में), देशविरति में और सूक्ष्मसम्पराय में अपना अपना एक ही गुणस्थान है। आहारक मार्गणा में १३ गुणस्थान हैं। वेद त्रिक से लेकर यहाँ तक की सब मार्गणाओं का बन्ध स्वामित्व अपने अपने गुणस्थानों के विषय में ओघ-बन्धाधिकार के समान-है ॥१९॥

भावार्थ—

उपशम सम्यक्त्व । यह सम्यक्त्व, देशविरति, प्रमत्त संयत-विरति या अप्रमत्तसंयत-विरति के साथ भी प्राप्त होता है। इसी कारण इस सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक ४ गुण-स्थान माने जाते हैं। इसी प्रकार आठवें से ग्यारहवें तक ४ गुणस्थानों में वर्तमान उपशम श्रेणीवाले जीव को भी यह सम्य-क्त्व रहता है। इसलिये इसमें सब मिलाकर ८ गुणस्थान कहे

हुए हैं। इस सम्यक्त्व के समय आयु का बन्ध नहीं होता यह बात अगली गाथा में कही जायगी। इससे चौथे गुणस्थान में तो देवआयु, मनुष्य आयु दोनों का बन्ध नहीं होता और पाँचवें आदि गुणस्थान में देव आयु का बन्ध नहीं होता। अतएव इस सम्यक्त्व में सामान्यरूप से ७७ प्रकृतियों का, चौथे गुणस्थान में ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में ५८-५६-२६, नववें में २२-२१-२०-१९-१८, दसवें में १७ और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्धस्वामित्व है।

वेदक। इस सम्यक्त्व का सम्भव चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में है। इसमें आहारक-द्विक के बन्ध का सम्भव है जिससे इसका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से ७९ प्रकृतियों का, विशेष रूप से—चौथे गुणस्थान में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३ और सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का है।

क्षायिक। यह चौथे से चौदहवें तक ११ गुणस्थानों में पाया जा सकता है। इसमें भी आहारकद्विक का बन्ध हो सकता है। इस लिये इसका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से ७९ प्रकृतियों का और चौथे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है।

मिथ्यात्व-त्रिक। इसमें एक गुणस्थान है—मिथ्यात्व मार्गणा में पहला, सास्वादन मार्गणा में दूसरा और मिश्रदृष्टि में

तीसरा गुणस्थान है। अतएव इस त्रिक का सामान्य व विशेष बन्धस्वामित्व बराबर ही है; जैसे:—सामान्य तथा विशेषरूप से मिथ्यात्व में ११७, सास्वादन में १०१ और मिश्रदृष्टि में ७४ प्रकृतियों का।

देशविरति और सूक्ष्मसम्पराय। ये दो संयम भी एक एक गुणस्थान ही में माने जाते हैं। देशविरति, केवल पाँचवें गुणस्थान में और सूक्ष्मसम्पराय, केवल दसवें गुणस्थान में है। अतएव इन दोनों का बन्धस्वामित्व भी अपने अपने गुणस्थान में कहे हुए बन्धाधिकार के समान ही है अर्थात् देशविरति का बन्धस्वामित्व ६७ प्रकृतियों का और सूक्ष्मसम्पराय का १७ प्रकृतियों का है।

आहारकमार्गणा। इसमें तेरह गुणस्थान माने जाते हैं। इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से तथा अपने प्रत्येक गुण-स्थान में बन्धाधिकार के समान है॥ १९॥

"उपशम सम्यक्त्व के सम्बन्ध में कुछ विशेषता दिखाते हैं:—"

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंति तेण अजयगुणे।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा*॥२०॥

परमुपशमे वर्तमाना आयुर्न बध्नन्ति तेनायतगुणे।

देवमनुजायुर्हीनो देशादिषु पुनः सुरायुर्विना॥ २०॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में वर्तमान जीव, आयु-बन्ध नहीं करते, इससे अयत–अविरतसम्यग्दृष्टि–गुणस्थान में देवआयु तथा मनुष्यआयु को छोड़कर अन्य प्रकृतियों का बन्ध होता है। और देशविरति आदि गुणस्थानों में देवआयु के बिना अन्य स्वयोग्य प्रकृतियों का बन्ध होता है।

भावार्थ—अन्य सम्यक्त्वों की अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व में विशेषता यह है कि इसमें वर्तमान जीव के अध्यवसाय

---

* इस गाथा के विषय को स्पष्टता के साथ प्राचीन बन्धस्वामित्व में इस प्रकार कहा है:—

"उवसम्मे वट्टंता, चउण्हमिक्कंपि आउयं नेय।
बंधंति तेण अजया, सुरनर आउहिं ऊणंतु॥ ५१॥

ओघो देस जयाइसु, सुराउहीणो उ जाव उवसंतो" इत्यादि॥ ५२॥

भावार्थ—लेश्यायें ६ हैं:—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजः, (५) पद्म और (६) शुक्ल।

कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले आहारक-द्विक को इस कारण बाँध नहीं सकते कि वे अधिक* से अधिक छः गुणस्थानों में वर्तमान माने जाते हैं; पर आहारक-द्विक का बन्ध सातवें के सिवाय अन्य गुणस्थानों में नहीं होता। अतएव वे सामान्यरूप से ११८ प्रकृतियों के, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवाय ११७ प्रकृतियों के, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ‡ ७७ प्रकृतियों के बन्धाधिकारी हैं॥ २१॥

---

* 'अधिक से अधिक' कहने का मतलब यह है कि यद्यपि इस कर्मग्रन्थ (गाथा २४) में कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले, ४ गुणस्थानों ही के अधिकारी माने गये हैं, पर चौथे कर्मग्रन्थ (गाथा २३) में उन्हें ६ गुणस्थान के अधिकारी बतलाया है।

‡ चौथे गुणस्थान के समय कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व 'साणाइसु सव्वहिं ओहो' इस कथन से माना हुआ है।

इसका उल्लेख प्राचीन बन्धस्वामित्व में स्पष्टरूप से है:—

"सुरनरआउयसहिया, अविरयसम्माउ होंति नायव्वा।
तित्थयरेण जुया तह, तेऊलेसे परं वोच्छं॥ ४२॥"

इससे यह बात स्पष्ट है कि उक्त ७७ प्रकृतियों में मनुष्य आयु की तरह देव-आयु की गिनती है। गोम्मटसार में बन्धोदयसत्वाधिकार की गाथा ११६ वीं वेद-मार्गणा से लेकर आहारक-मार्गणा पर्यन्त सब मार्गणाओं का बन्धस्वामित्व, गुणस्थान के समान कहा है।

तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का।
विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥२२॥

तेजोनरकनवोना उद्योतचतुर्नरकद्वादश विना शुक्ला: ।
विना नरकद्वादश पद्मा आजिनाहारका इमा मिथ्यात्वे ॥२२॥

इन मार्गणाओं में लेश्या-मार्गणा का समावेश है। इससे कृष्ण आदि तीन लेश्याओं का चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व, गोम्मटसार को भी अभिमत है। क्योंकि इसके बन्धोदयसत्वाधिकार की गा० १०३ में चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध स्पष्टरूप से माना हुआ है।

इस प्रकार कृष्ण आदि तीन लेश्या के चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी बन्धस्वामित्व के विषय में कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) दोनों का कोई मतभेद नहीं है।

परन्तु इस पर **श्री जीवविजयजी** ने और **श्री जयसोमसूरि** ने इस गाथा के अपने २ टबे में एक शंका उठाई है, वह इस प्रकार है:—

"कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले, जो चौथे गुणस्थान में वर्तमान हैं उनको देव-आयु का बन्ध माना नहीं जा सकता; क्योंकि **श्री भगवती सिद्धान्त**, शतक ३० के पहले उद्देश में कृष्ण-नील-कापोत लेश्यावाले, जो सम्यक्त्वी हैं उनके आयु-बन्ध के सम्बन्ध में **श्रीगौतम स्वामी** के प्रश्न पर **भगवान महावीर** ने कहा है कि—'कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वी मनुष्य-आयु ही को बांध सकते हैं, अन्य आयु को नहीं।' उसी उद्देश में **श्रीगौतम स्वामी** के अन्य प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने यह भी कहा है कि—'कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले तिर्यंच तथा मनुष्य जो सम्यक्त्वी हैं वे किसी भी आयु को नहीं बांधते।' इस प्रश्नोत्तर का सारांश इतना ही है कि उक्त तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वियों को मनुष्य-आयु का बन्ध होता है, अन्य आयुओं का नहीं,

अर्थ—तेजोलेश्या का बन्धस्वामित्व नरक-नवक—नरक त्रिक, सूक्ष्मत्रिक और विकल-त्रिक—के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का है। उद्योत-चतुष्क (उद्योत नामकर्म, तिर्यञ्च-द्विक, तिर्यञ्च आयु) और नरक-द्वादश (नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप) इन सोलह प्रकृतियों को

सो भी देवों तथा नारकों की अपेक्षा से। श्रीभगवती के उक्त मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं का चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी बन्धस्वामित्व देव-आयु-रहित अर्थात् ७६ प्रकृतियों का माना जाना चाहिए, जो कर्मग्रन्थ में ७७ प्रकृतियों का माना गया है।"

उक्त शंका (विरोध) का समाधान कहीं दिया नहीं गया है। टबाकारों ने बहुश्रुत-गम्य कह कर उसे छोड़ दिया है। गोम्मटसार में तो इस शंका के लिये जगह ही नहीं है। क्योंकि उसे भगवती का पाठ मान्य करने का आग्रह नहीं है। पर भगवती को मानने वाले कार्मग्रन्थिकों के लिये यह शंका उपेक्षणीय नहीं है।

उक्त शंका के सम्बन्ध में जब तक किसी की ओर से दूसरा प्रामाणिक समाधान प्रकट न हो, यह समाधान मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वियों के प्रकृति-बन्ध में देवआयु की गणना की गयी है सो कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार; सैद्धान्तिक मत के अनुसार नहीं।

कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का किसी २ विषय में मत-भेद है, यह बात चौथे कर्मग्रन्थ की ४६ वीं गाथा में उल्लिखित सैद्धान्तिक मत से निर्विवाद सिद्ध है। इसलिये इस कर्मग्रन्थ में भी उक्त देव-आयु का बन्ध होने न होने के सम्बन्ध में कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का मत भेद मान कर आपस के विरोध का परिहार कर लेना अनुचित नहीं।

छोड़ कर अन्य सब प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व शुक्ललेश्या में है। उक्त नरक-द्वादश के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध पद्म-लेश्या में होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तेज आदि उक्त तीन लेश्याओं का बन्धस्वामित्व तीर्थंकर नामकर्म और आहा-रक-द्विक को छोड़ कर समझना ॥ २२ ॥

भावार्थ-

तेजोलेश्या। यह लेश्या, पहले सात गुणस्थानों में पायी जाती है। इसके धारण करने वाले उपर्युक्त नरक आदि ९

ऊपर जिन प्रश्नोत्तर का कथन किया गया है उसका आवश्यक मूल पाठ नीचे दिया जाता है:—

कण्हलेस्साणं भंते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा? गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति। अकिरिया अण्णाणिय वेणइयवादी य चत्तारिवि आउयं पकरेंति। एवं णीज लेस्सावि काउलेस्सावि।

कण्हलेस्साणं भंते! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा? गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्ख-जोणियाउयं पकरेंति णो मणुस्साउयं पकरेंति णो देवाउयं पकरेंति। अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहंपि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा एवं णीललेस्सावि काउलेस्सावि।

जहा पंचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं वत्तव्वा भणिया एवं मणुस्सा-णवि भाणियव्वा।

इस पाठ के 'किरियावादी' शब्द का अर्थ टीका में क्रियावादी-सम्य-क्त्वी-किया गया है।

प्रकृतियों को बांध नहीं सकते। क्योंकि उक्त ९ प्रकृतियां, कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं से ही बांधी जाती हैं। इस लिये तेजोलेश्या वाले, उन स्थानों में पैदा नहीं होते जिनमें—नरक-गति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, और विकलेन्द्रिय में—उक्त ९ प्रकृतियों का उदय होता है। अतएव तेजोलेश्या में सामान्यरूप से १११ प्रकृतियों का, पहले गुण स्थान में तीर्थङ्करनामकर्म और आहा-रक-द्विक के सिवाय १११ में से शेष १०८ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के अनुसार बन्धस्वामित्व है।

पद्मलेश्या। यह भी पहले सात ही गुणस्थानों में पायी जाती है। तेजोलेश्या से इसमें विशेषता यह है कि इसके धारण करने वाले उक्त नरक-नवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्था-वर और आतप इन तीन प्रकृतियों को भी नहीं बांधते। इसी से पद्म लेश्या के सामान्य बन्ध में १२ प्रकृतियां छोड़ कर १०८ प्रकृतियां गिनी जाती हैं। तेजोलेश्या वाले, एकेन्द्रियरूप से पैदा हो सकते हैं, पर पद्मलेश्या वाले नहीं। इसी कारण एकेन्द्रिय आदि उक्त तीन प्रकृतियाँ भी वर्जित हैं। अतएव पद्म लेश्या का बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से १०८ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म तथा आहारक-द्विक के घटाने से १०५ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुण-स्थान में बन्धाधिकार के समान समझना।

शुक्ललेश्या। यह लेश्या, पहले १३ गुणस्थानों में पायी जाती है। इसमें पद्मलेश्या से विशेषता यह है कि पद्म-लेश्या की अबन्ध्य—नहीं बांधने योग्य—प्रकृतियों के अलावा और भी ४ प्रकृतियां (उद्योत-चतुष्क) इसमें बांधी नहीं जातीं। इसका कारण यह है कि पद्मलेश्या वाले, तिर्यञ्च में—जहां कि उद्योत-चतुष्क का उदय होता है—जन्म ग्रहण करते हैं, पर शुक्ललेश्या वाले, उसमें जन्म नहीं लेते। अतएव कुल १६ प्रकृतियां सामान्य बन्ध में गिनी *नहीं जातीं। इस से शुक्ल

---

* इस पर एक शंका होती है। सो इस प्रकारः—

ग्यारहवीं गाथा में तीसरे से आठवें देवलोक तक का बन्धस्वामित्व कहा है; इसमें छठे, सातवें और आठवें देवलोकों का—जिनमें तत्त्वार्थ अध्याय ४ सूत्र २३ के भाष्य तथा संग्रहणी-गाथा १७५ के अनुसार शुक्ल लेश्या ही मानी जाती है—बन्धस्वामित्व भी आजाता है। ग्यारवीं गाथा में कहे हुये छठे आदि तीन देवलोकों के बन्धस्वामित्व के अनुसार, शुक्ललेश्या वाले भी उद्योत-चतुष्क को बांध सकते हैं, पर इस बाईसवीं गाथा में शुक्ल लेश्या का जो सामान्य बन्धस्वामित्व कहा गया है उसमें उद्योत-चतुष्क को नहीं गिना है, इसलिये यह पूर्वापर विरोध है।

श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरि ने भी अपने अपने टबे में उक्त विरोध को दर्शाया है।

दिगम्बरीय कर्मशास्त्र में भी इस कर्मग्रन्थ के समान ही वर्णन है। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड-गा० ११२) में सहस्रार देवलोक तक का जो बन्धस्वामित्व कहा गया है उसमें इस कर्मग्रन्थ की ग्यारहवीं

लेश्या का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से १०४ प्रकृतियों का, मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननामकर्म और अहारक-द्विक के

गाथा के समान ही उद्योत-चतुष्क परिगणित हैं। तथा कर्मकाण्ड-गाथा १२१ में शुक्लेश्या का बन्धस्वामित्व कहा हुआ है जिसमें उद्योत-चतुष्क का वर्जन है।

इस प्रकार कर्मग्रन्थ तथा गोम्मटसार में बन्धस्वामित्व समान होने पर भी दिगम्बरीय शास्त्र में उपर्युक्त विरोध नहीं आता। क्योंकि दिगम्बर-मत के अनुसार लान्तव (श्वेताम्बर-प्रसिद्ध लान्तक) देवलोक में पद्मलेश्या ही है—(तत्त्वार्थ-अध्याय-४-सू० २२ की सर्वार्थसिद्धि-टीका)। अतएव दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि सहस्रार देवलोक पर्यन्त के बन्धस्वामित्व में उद्योत-चतुष्क का परिगणन है सो पद्मलेश्या वालों की अपेक्षा से, शुक्लेश्या वालों की अपेक्षा से नहीं।

परन्तु तत्त्वार्थ भाष्य, संग्रहणी आदि श्वेताम्बर-शास्त्र में देवलोकों की लेश्या के विषय में जैसा उल्लेख है उसके अनुसार उक्त विरोध का परिहार नहीं होता।

यद्यपि इस विरोध के परिहार के लिये श्री **जीवविजयजी** ने कुछ भी नहीं कहा है, पर श्री **जयसोमसूरि** ने तो यह लिखा है कि "उक्त विरोध को दूर करने के लिये यह मानना चाहिये कि नववें आदि देवलोकों में ही केवल शुक्लेश्या है।"

उक्त विरोध के परिहार में श्री **जयसोमसूरि** का कथन, ध्यान देने योग्य है। उस कथन के अनुसार छठे आदि तीन देवलोकों में पद्म, शुक्ल दो लेश्याएँ और नववें आदि देवलोकों में केवल शुक्ल लेश्या मान लेने से उक्त विरोध हट जाता है।

सिवाय १०१ का, और दूसरे गुणस्थान में नपुंसक वेद, हुंड-संस्थान मिथ्यात्व, सेवार्तसंहनन–इन ४ को छोड़ १०१ में से

अब यह प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र-जिसमें छठे, सातवें और आठवें देवलोक में भी केवल शुक्ल लेश्या का ही उल्लेख है उसकी क्या गति ? इसका समाधान यह करना चाहिये कि तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र में जो कथन है वह बहुलता की अपेक्षा से। अर्थात् छट्ठे आदि तीन देवलोकों में शुक्ल लेश्या वालों की ही बहुलता है, इसलिये उनमें पद्मलेश्या का सम्भव होने पर भी उसका कथन नहीं किया गया है। लोक में भी अनेक व्यवहार प्रधानता से होते हैं। अन्य जातियों के होते हुए भी जब ब्राह्मणों की बहुतायत होती है तब यही कहा जाता है कि यह ब्राह्मणों का ग्राम है।

उक्त समाधान का आश्रय लेने में श्री **जयसोमसूरि** का कथन सहायक है। इस प्रकार दिगम्बरीय ग्रन्थ भी उस सम्बन्ध में मार्गदर्शक हैं। इसलिये उक्त तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र की व्याख्या को उदार बनाकर उक्त विरोध का परिहार कर लेना असंगत नहीं जान पड़ता।

टिप्पण में उल्लिखित ग्रन्थों के पाठ क्रमशः नीचे दिये जाते हैं:—

"शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिध्धा च्छुक्ललेश्याः"

(तत्त्वार्थ भाष्य)

"कप्पतिय पम्ह लेसा, लंताइसु सुकलेस हुंति सुरा"

(संग्रहणी गा. १७५)

शेष ९७ प्रकृतियों का है। तीसरे से लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वह बन्धधिकार के समान है ॥ २२ ॥

"भव्य, अभव्य, संज्ञी असंगी और अनाहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्व।"

सव्वगुण भव्वसन्निसु, ओहु अभव्वा असंनि मिच्छसमा
सासणि असंनि सन्निव्व, कम्मणभंगो अणाहारे।२३॥

सर्वगुण भव्यसञ्ज्ञिष्वोघोऽभव्या असञ्ज्ञिनो मिथ्यासमाः।
सासादनेऽसंज्ञी संज्ञिवत्कार्मणभंगोऽनाहारे ॥२३॥

अर्थ—सब (चौदह) गुणस्थान वाले भव्य और संज्ञियों का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान है। अभव्य और असंज्ञियों का बन्धस्वामित्व मिथ्यात्व मार्गणा के समान है। सास्वादन गुणस्थान में असंज्ञियों का बन्धस्वामित्व संज्ञी के

"कप्पित्थीसु ण तित्थं, सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं।
तिरियाऊ उज्जोवो, अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ।"
(कर्मकाण्ड गा. ११२)

'सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमबारसं च ण व अत्थि'
(कर्मकाण्ड गा. १२१)

"ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्या। शुक्र महाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः।" (सर्वार्थसिद्धि)

समान है। अनाहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्व कार्मण योग के बन्धस्वामित्व के समान है ॥२३॥

भावार्थ।

भव्य और संज्ञी–ये चौदह गुणस्थानों के अधिकारी हैं। इसलिये इनका बन्धस्वामित्व, सब गुणस्थानों के विषय में बन्धाधिकार के समान ही है।

अभव्य—ये पहिले गुणस्थान में ही वर्तमान होते हैं। इनमें सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति न होने के कारण तीर्थंकर नामकर्म तथा अहारक-द्विक के बन्ध का सम्भव ही नहीं है। इसलिये ये सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नाम कर्म आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़कर १२० में से शेष ११७ प्रकृतियों के बन्ध के अधिकारी हैं।

असंज्ञी–ये पहिले दूसरे दो गुणस्थानों में वर्तमान पाये जाते हैं। पहिले गुणस्थान में इनका बन्धस्वामित्व मिथ्यात्व के समान है, पर दूसरे गुणस्थान में संज्ञी के समान, अर्थात् ये असंगी, सामान्यरूप से तथा पहिले गुणस्थान में तीर्थंकर नाम कर्म आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़ कर, शेप ११७ प्रकृतियों के बन्धाधिकारी हैं और दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों के।

अनाहरक- यह मार्गणा पहिले, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें-इन ५ गुणस्थानों में † पाई जाती है। इनमें से पहिला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान उस समय होते हैं जिस समय कि जीव दूसरे स्थान में पैदा होने के लिये विग्रह गति से जाते हैं; उस समय एक दो या तीन समय पर्यन्त जीव को औदारिक आदि स्थूल शरीर नहीं होते इसलिये अनाहारक अवस्था रहती है। तेहरवें गुणस्थान में केवल समुद्‌घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अनाहारकत्व होता है। इस तरह चौदहवें गुणस्थान में भी योग का निरोध-अभाव हो जाने से किसी तरह के आहार का सम्भव नहीं है। परन्तु चौदहवें गुणस्थान में तो बन्ध का सर्वथा अभाव ही है इसलिये शेष चार गुणस्थानों में अनाहारक के बन्धस्वामित्व का सम्भव है, जो कार्मणकाययोग के बन्धस्वामित्व के

---

† यथाः—"पडमंतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा।"

[चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गाथा. २३]

यही बात गोम्मटसार में इस प्रकार कही गई हैः—

"विग्गहगदिमावण्णा, केवलिणो समुग्घदो अजोगीय।

सिध्धा य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा॥"

(जीव. गा. ६६५)

अर्थात विग्रह-गति में वर्त्तमान जीव, समुद्‌घात वाले केवली, अयोगि-केवली और सिद्ध-ये अनाहारक हैं। इनके सिवाय शेष सब जीव आहारक हैं।

समान ही है। अर्थात् अनाहारक का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से ११२ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में १०७ का; दूसरे में ९४ का, चौथे में ७५ का और तेरहवें में एक प्रकृति का है ॥२३॥

लेश्याओं में गुणस्थान का कथन।

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेरत्ति बन्धसामित्तं
देविंदसूरिलिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥२४॥

तिसृषु द्वयोः शुक्लायां गुणाश्चत्वारः सप्त त्रयोदशेति बन्धस्वामित्वम्। देवेन्द्रसूरिलिखितं ज्ञेयं कर्मस्तवं श्रुत्वा ॥२४॥

अर्थ—पहली तीन लेश्याओं में चार गुणस्थान हैं। तेजः और पद्म दो लेश्याओं में पहिले सात गुणस्थान हैं। शुक्ल लेश्या में पहले तेरह गुणस्थान हैं। इस प्रकार यह 'बन्धस्वामित्व' नामक प्रकरण—जिसको श्री देवेन्द्रसूरि ने रचा है—उसका ज्ञान 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ को जानकर करना चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थ—कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याओं को ४ गुणस्थानों में ही मानने का आशय यह है कि ये लेश्याएं अशुभ परिणामरूप होने से आगे के अन्य गुणस्थानों में पाई नहीं जा सकतीं। पिछली तीन लेश्याओं में से तेजः और पद्म ये दो शुभ हैं सही, पर उनकी शुभता शुक्ल लेश्या से बहुत

कम होती है। इससे वे दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान तक ही पायी जाती हैं। शुक्ल लेश्या का स्वरूप इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवें गुणस्थान तक पायी जाती है।

इस प्रकरण का 'बन्धस्वामित्व' नाम इस लिये रक्खा गया है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृति-बंध-सम्बंधिनी योग्यता का—बंधस्वामित्व का—विचार किया गया है।

इस प्रकरण में जैसे मार्गणाओं को लेकर जीवों के बंधस्वामित्व का सामान्यरूप से विचार किया है, वैसे ही गुण स्थानों को लेकर विशेष रूप से भी उसका विचार किया गया है, इसलिये इस प्रकरण के जिज्ञासुओं को चाहिये कि वे इस को असंदिग्धरूप से जानने के लिये दूसरे कर्म ग्रंथ का ज्ञान पहले सम्पादन कर लेवें, क्योंकि दूसरे कर्मग्रन्थ के बंधाधिकार में गुणस्थानों को लेकर प्रकृति-बंध का विचार किया है जो इस प्रकरण में भी आता है। अतएव इस प्रकरण में जगह जगह कह दिया है कि अमुक मार्गणा का बंधस्वामित्व बंधाधिकार के समान है।

इस गाथा में जैसे लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन, बंध स्वामित्व से अलग किया है वैसे अन्य मार्गणाओं में गुणस्थानों का कथन, बंधस्वामित्व के कथन से अलग इस प्रकरण में कहीं नहीं किया है। इसका कारण इतना ही है कि अन्य मार्गणाओं में तो जितने जितने गुणस्थान चौथे कर्मग्रंथ में दिखाये गये हैं उनमें कोई मत भेद नहीं है पर लेश्या के सम्बंध में ऐसा नहीं

है । § चौथे कर्मग्रन्थ के मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ६ गुणस्थान हैं, परन्तु † इस तीसरे कर्मग्रंथ के मतानुसार उनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं। अतएव उनमें बंधस्वामित्व भी चार गुणस्थानों को लेकर ही वर्णन किया गया है ॥ २४ ॥

इति बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ ।

---

§ यथाः—'अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।'

अर्थात् असंज्ञी में पहले दो गुणस्थान हैं, कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याओं में छः और तेजः तथा पद्म लेश्याओं में सात गुणस्थान हैं ।

(चतुर्थ कर्मग्रन्थ. गा. २३)

† *कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ४ गुणस्थान हैं यह मत,* 'पंचसंग्रह' तथा 'प्राचीन बन्धस्वामित्व' के अनुसार हैः—

" छल्लेस्सा जाव सम्मोत्ति" [पंचसंग्रह १-३०]

"छच्चउसु तिण्णि तीसुं, छण्हं सुक्का अजोगी अलेस्सा"

[प्राचीन बन्धस्वामित्व. गा. ४०]

यही मत, गोम्मटसार को भी मान्य हैः—

"थावरकायप्पहुदी, अविरदसम्मोत्ति असुहतिहलेस्सा ।
सण्णीदो अपमत्तो, जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ ॥"

[जीव. गा. ६९१]

अर्थात् पहली तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावरकाय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान-पर्यंत होती हैं और अंत की तीन शुभ लेश्याएँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त-पर्यंत होती हैं ।

परिशिष्ट क

(१) **गोम्मटसार के देखने योग्य स्थल**–तीसरे कर्मग्रन्थ का विषय–गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में बंधस्वामित्व का कथन–गोम्मटसार में है, जो कर्मकाण्ड गा. १०५ से १२१ तक है। इसके जानने के लिये जिन बातों का ज्ञान पहले आवश्यक है उनका संकेत गा. ९४ से १०४ तक है।

गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में उदय–स्वामित्व का विचार, जो प्राचीन या नवीन तीसरे कर्मग्रन्थ में नहीं है वह **गोम्मटसार** में है। इसका प्रकरण कर्मकांड गा. २९० से ३३२ तक है। इसके लिये जिन संकेतों का जानना आवश्यक है वे गा. २६३ से २८९ तक में संगृहीत हैं। इस उदय-स्वामित्व के प्रकरण में उदीरणा-स्वामित्व का विचार भी सम्मिलित है।

गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में सत्ता-स्वामित्व का विचार भी गोम्मटसार में है, पर कर्मग्रन्थ में नहीं। यह प्रकरण कर्मकांड गा. ३४६ से ३५६ तक है। इसके संकेत गा. ३३३ से से ३४५ तक में है।

(२) **श्वेताम्बर-दिगम्बर संप्रदाय के समान-असमान कुछ मन्तव्य।**

(१) कर्मग्रन्थ में तीसरे गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं माना जाता वैसा ही गोम्मटसार में भी। गा. ८ की टिप्पणी पृ. १५।

(२) पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओं में दूसरे गुणस्थान में ९६ और ९४ प्रकृतियों का बन्ध, मत-भेद से कर्मग्रन्थ में है। गोम्मटसार में केवल ९४ प्रकृतियों का बन्ध वर्णित है। गा. १२ की टिप्पणी पृ० ३१-३२।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यंत चार इन्द्रिय मार्गणाओं में तथा पृथिवी जल और वनस्पति तीन कायमार्गणाओं में पहला दूसरा दो गुणस्थान कर्मग्रन्थ में माने हुए हैं। गोम्मटसार कर्मकांड को यही पक्ष सम्मत है; यह बात कर्म० गा. ११३-११५ तक का विषय देखने से स्पष्ट हो जाती है। परन्तु **सर्वार्थसिद्धिकार** का इस विषय में भिन्न मत है। वे एकेन्द्रिय आदि उक्त चार इन्द्रिय मार्गणाओं में और पृथिवीकाय आदि उक्त तीन कायमार्गणाओं में पहला ही गुणस्थान मानते हैं। (इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिपु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्; कायानुवादेन पृथिवीकायादिपु वनस्पतिकायान्तेपु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् तत्वार्थ अ. १ सू. ८ की सर्वार्थसिद्धि) सर्वार्थसिद्धि का यह मत गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ६७७ में निर्दिष्ट है।

एकेन्द्रियों में गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में श्वेताम्बर संप्रदाय में दो पक्ष चले आते हैं। सैध्यान्तिक पक्ष सिर्फ़ पहला गुणस्थान (चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ४८) और कार्मग्रन्थिक पक्ष पहला दूसरा दो गुणस्थान मानता है (पंचसंग्रह द्वा. १-२८)। दिगम्बर संप्रदाय में यही दो पक्ष देखने में आते हैं। सर्वार्थसिद्धि और जीवकाण्ड में सैध्यान्तिक पक्ष तथा कर्मकाण्ड में कार्मग्रन्थिक पक्ष है।

(३) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियों का बन्ध जैसा कर्मग्रन्थ में है वैसा ही गोम्मटसार में। गा. १४ की टिप्पणी पृ. ३७-३९।

(४) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में सम्यक्त्वी को ७५ प्रकृतियों का बन्ध न होना चाहिये किन्तु ७० प्रकृतियों का ऐसा टबाकार का मन्तव्य है। गोम्मटसार को यही मन्तव्य अभिमत है। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४०-४२।

(४) आहारकमिश्रकाययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध कर्मग्रन्थ में माना हुआ है, परन्तु गोम्मटसार में ६२ प्रकृतियों का। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४५।

(६) कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले सम्यक्त्विओं को सैद्धान्तिक दृष्टि से ७५ प्रकृतियों का बन्ध माना जाना चाहिये, जो कर्मग्रन्थ में ७७ का माना है। गोम्मटसार भी उक्त विषय में कर्मग्रन्थ के समान ही ७७ प्रकृतियों का बन्ध मानता है। गा. २१ की टिप्पणी पृ. ६२-६५।

(७) श्वेताम्बर संप्रदाय में देवलोक १२ माने हैं। (तत्वार्थ अ. ४ सू. २० का भाष्य), परंतु दिगम्बर संप्रदाय में १६। (तत्वार्थ अ. ४ सू. १८ की सर्वार्थसिद्धि)। श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त छः देवलोक हैं, पर दिगम्बर संप्रदाय के अनुसार १०। इन में ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार देवलोक हैं, जो श्वेताम्बर संप्रदाय में नहीं माने जाते।

श्वेताम्बर संप्रदाय में तीसरे सनत्कुमार से लेकर पाँचवें ब्रह्मलोक पर्यंत केवल पद्मलेश्या और छट्ठे लांतक से लेकर ऊपर के सब देवलोकों में शुक्ल लेश्या मानी जाती है। परंतु दिगम्बर संप्रदाय में ऐसा नहीं। उसमें सनत्कुमार, माहेन्द्र दो देवलोकों में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ इन चार देवलोकों में पद्म लेश्या शुक्र महाशुक्र शतार, सहस्रार चार देव लोकों में पद्मलेश्या तथा शुक्ल लेश्या और आनत आदि शेष सब देवलोको में केवल शुक्ल लेश्या मानी जाती है।

कर्मग्रन्थ में तथा गोम्मटसार में शुक्ल लेश्या का बंधस्वामित्व समान ही है। गा. २२ की टिप्पणी पृ. ६७-७०।

(८) तीसरे कर्मग्रंथ में कृष्ण आदि तीन लेश्याएं पहले चार गुणस्थानों में मानी हैं, गोम्मटसार और सर्वार्थसिद्धि में वही मत है। गा. २४ की टिप्पणी. पृ. ७५।

(६) गतित्रस—श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों संप्रदायों में तेजः कायिक, वायुकायिक जीव, स्थावर नामकर्म के उदय के कारण स्थावर माने गये हैं, तथापि श्वेताम्बर साहित्य में अपेक्षा विशेष से उनको त्रस भी कहा है:—

"तेऊ वाऊ अ बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेते तसा तिविहा, तेसिंभेए सुणेह मे ॥"

(उत्तराध्ययन अ. ३६ गा. १०७)

"तेजोवाय्वोश्च स्थावरनामकर्मोदयेऽप्युक्तरूपं त्रसनमस्तीति त्रसत्वं, द्विधा हि तत् गतितो, लब्धितश्च; तेजोवाय्वोर्गतित उदाराणां च लब्धितोऽपि त्रसत्वमिति"

(टीका-वादिवेताल शांतिसूरि)

"तेजोवायूद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।" (तत्वार्थ अ. २-१४)। त्रसत्वं च द्विविधं, क्रियातो लब्धितश्च। तत्र क्रिया कर्म चलनं देशान्तर प्राप्तिरतः क्रियां प्राप्य तेजो वाय्वोस्त्रसत्वं; लब्धिस्तु त्रसनाम कर्मोदयो यस्माद् द्वीन्द्रियादिना क्रिया च देशान्तरप्राप्तिलक्षणेति" । (तत्वार्थ अ. २-१४ भाष्य टीका)।

"दुविहा खलु तसजीवा, लद्धितसा चेव गइतसा चेव
लद्धीय तेउवाऊ तेणऽहिगारो इह नत्थि ॥"

(आचारांग निर्युक्ति गा. १५३)

"पंचामी स्थावराः स्थाव-राख्य कर्मोदयात्किल।
हुताशमरुतौ तत्र, जिनैरुक्तौ गतित्रसौ ॥" (लोक प्रकाश ४-२६)

यह विचार **जीवाभिगम** में भी है।

यद्यपि **तत्वार्थभाष्यटीका** आदि में तेजः कायिक वायुकायिक को 'गतित्रस' और **आचारांग निर्युक्ति** तथा उसकी टीका में 'लब्धित्रस' कहा है तथापि गतित्रस लब्धित्रस इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का मतलब यह है कि तेजःकायिक वायुकायिक में द्वीन्द्रिय आदि की तरह त्रसनामकर्मोदय रूप त्रसत्व नहीं है, केवल गमन क्रिया रूप शक्ति होने से त्रसत्व माना जाता है; द्वीन्द्रिय आदि में तो त्रसनामकर्मोदय और गमनक्रिया उभय-रूप त्रसत्व है।

दिगम्बर साहित्य में सब जगह तेजःकायिक वायुकायिक को स्थावर ही कहा है, कहीं भी अपेक्षा विशेष से उनको त्रस नहीं कहा है। "पृथिव्यप्तेजो वायुवनस्पतयः स्थावराः।" **तत्वार्थ** अ० २-१३ तथा उसकी **सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक**।

(३) पंचसंग्रह (श्री चन्द्रमहत्तर रचित).

(१) औदारिक मिश्रकाययोग के बन्ध में तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की गणना इस कर्मग्रन्थ की गा. १४ वीं में की है। उक्त आयुओं का बन्ध मानने न मानने के विषय में टबाकारों ने शंका समाधान किया है, जिसका विचार टिप्पणी

पृ. ३७–३९ पर किया है। **पंचसंग्रह** इस विषय में कर्मग्रन्थ के समान उक्त दो आयुओं का बन्ध मानता है:—

" वेउव्विजुगे न आहारं ।"

"बंधइ न उरलमीसे, नरयतिगं छट्ठममराउं ॥" (४—१५५)

टीका—" यत्तु तिर्यगायुर्मनुष्यायुस्तदल्पाध्यवसाययोग्यमिति तस्या मप्यवस्थायां तयोर्बन्धसंभवः ।" (श्रीमलयगिरि)

मूल तथा टीका का सारांश इतना ही है कि आहारकद्विक, नरक-त्रिक और देवायु इन छः प्रकृतियों के सिवाय ११४ प्रकृतियों का बन्ध, औदारिकमिश्रकाययोग में होता है। औदारिकमिश्रकाययोग के समय मनः पर्याप्ति पूर्ण न बन जाने के कारण ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिन से कि नरकायु तथा देवायु का बन्ध हो सकता है। इसलिये इन दो का बन्ध उक्त योग में भले ही न हो, पर तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का बन्ध उक्त योग में होता है क्योंकि इन दो आयुओं के बन्ध-योग्य अध्यवसाय उक्त योग में पाये जा सकते हैं।

(२) आहारककाययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध गा. १५ वीं में निर्दिष्ट है। इस विषय में **पंचसंग्रहकार** का मत भिन्न है। वे आहारक काययोग में ५७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं:—

" सगवन्ना तेवट्ठी, बंधइ आहार उभयेसु ।" (४—१५६)

परिशिष्ट ख

कोष

अ

गाथा-अंक	प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी
३	अण	अन	अनन्तानुबन्धि-चतुष्क
५	अणछवीस	अनषड्विंशति	अनन्तानुबन्धी आदि २६ प्रकृतियाँ
६	अजिनमणुआउ	अजिनमनुष्यायुष्	तीर्थङ्कर नामकर्म तथा मनुष्यायु छोड़ कर
७	अणचउवीस	अनचतुर्विंशति	अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ
८	अणएकतीस	अनैकत्रिंशत्	अनन्तानुबन्धी आदि ३१ प्रकृतियाँ
९	अजय	अयत	अविरतसम्यग्दृष्टि जीव.
९	अपजत्त	अपर्याप्त	अपर्याप्त
११	अपज्ज	अपर्याप्त	अपर्याप्त

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१५	अणचउवीसाइ	अनचतुर्विंशत्यादि	अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ
१७	अनाणतिग	अज्ञान-त्रिक	मति आदि तीन अज्ञान
१७	अचक्खु	अचक्षुष्	अचक्षुर्दर्शन
१७	अहखाय	यथाख्यात	यथाख्यातचारित्र
१८	अजयाइ	अयतादि	अविरतसम्यग्दृष्टि आदि
१९	अड	अष्टन्	आठ
२०	अजय गुण	अयत गुण	अयतगुणस्थान
२१	अट्ठारसय	अष्टादशशत	एक सौ अठारह
२२	अजिणाहार	अजिनाहारक	जिन नामकर्म तथा आहारक-द्विक रहित
२३	अभव्व	अभव्य	अभव्य
२३	असंनि	असंज्ञिन्	असंज्ञी
२३	अणाहार	अनाहारक	अनाहारक मार्गणा

आ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२	आहारदु	आहारक-द्विक	आहारक-द्विक नामकर्म
२	आयव	आतप	आतप नामकर्म
७	आहार	आहारक	आहारक द्विक-नामकर्म
११	आणयाइ	आनतादि	आनत आदि देवलोक
१४	आहार-छग	आहारक-षट्क	आहारक आदि छह प्रकृतियाँ
१५	आहार-दुग	आहारक-द्विक	आहरक तथा आरहक-मिश्रयोग
१६	आइम	आदिम	प्रथम
१९	आहारग	आहारक	आहारक मार्गणा
२०	आउ	आयुष्	आयु
२१	आहार-दुग	आहारक-द्विक	आहारक-द्विक नामकर्म
२१	आइलेसतिग	आदिलेश्यात्रिक	कृष्ण आदि तीन लेश्याऐं

इ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	इत्थि	स्त्री	स्त्री वेद नामकर्म
४	इगसउ	एकशत	एक सौ एक
५	इय	इति	इस प्रकार
६	इगनवई	एक नवति	एकानवे
१०	इगिंदितिग	एकेन्द्रिय-त्रिक	एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियाँ
११	इगिंदि	एकेन्द्रिय	एकेन्द्रिय मार्गणा
१९	इक्कार	एकादशम्	ग्यारह
२२	इदम् (इमाः)	इमाः	यह

उ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	उरलदुग	औदारिक-द्विक	औदारिक-द्विक नामकर्म
३	उज्जोअ	उद्योत	उद्योत नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
७	उच्च	उच्च	उच्च गोत्र
११	उज्जोअ-चउ	उद्योत-चतुष्क	उद्योत आदि चार प्रकृतियाँ
१३	उरल	औदारिक	औदारिक काययोग
१९	उवसम	उपशम	औपशमिक सम्यक्त्व
		ऊ	
२१	ऊण	ऊन	हीन
		ए	
२	एगिंदि	एकेन्द्रिय	एकेन्द्रियजाति नामकर्म
१०	एवं	एवं	इस प्रकार
		ओ	
४	ओह	ओघ	सामान्य
१८	ओहि दुग	अवधि-द्विक	अवधि-द्विक

क

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	कुखग	कुखग	अशुभ विहायोगति नामकर्म
१०	कप्प-दुग	कल्प-द्विक	दो देवलोक
१२	केइ	केचिन्	कोई
१५	कम्म	कार्मण	कार्मण काययोग
१८	केवलदुग	केवल-द्विक	केवल-द्विक
२३	कम्मण	कार्मण	कार्मण काययोग
२४	कम्मत्थय	कर्मस्तव	कर्मस्तव नामक प्रकरण

ख

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१९	खइअ	क्षायिक	क्षायिक सम्यक्त्व

ग

गा०	प्रा०	सं०	हि०
	गइआइ	गत्यादि	गति वगैरह

गा०	प्रा०	सं०	हि०
९	गुण	गुण	गुणस्थान
१३	गइतस	गतित्रस	तेज:काय, वायुकाय
		च	
१२	चउनवइ	चतुर्नवति	चौरानवे
१४	चउदससअ	चतुर्दशशत	एकसौ चौदह
१७	चक्खु	चक्षुष्	चक्षुर्दर्शन
१७	चरम	चरम	अन्तिम
१७	चउ	चतुर्	चार
		छ	
२	छेवट्ठ	सेवार्त	सेवार्त संहनन नामकर्म
४	छनुइ	षण्णवति	छानवे
१२	छनवइ	षण्णवति	छानवे
१८	छेअ	छेद	छेदोपस्थापनीय चारित्र

ज

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१	जिणचन्द	जिनचन्द्र	जिनेश्वर
२	जिण	जिन	जिन नामकर्म
५	जुत्र	युत	सहित
९	जिण-इक्कारस	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियाँ
१०	जोइ	ज्योतिष्	ज्योतिषी देव
११	जल	जल	जलकाय
१२	जंति	यान्ति	पाते हैं
१३	जिणिक्कार	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियाँ
१४	जिण-पणग	जिन-पंचक	जिन आदि पाँच प्रकृतियाँ
१५	जिण-पण	जिन-पंचक	जिन आदि पाँच प्रकृतियाँ
१५	जोगि	योगिन	सयोगि-केवली
१८	जयाइ	यनादि	प्रमत-संयत आदि गुणस्थान

त

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	तिरिदुग	तिर्यग्द्विक	तिर्यञ्च-द्विक
३	तिरिनराउ	तिर्यग्नरायुष्	तिर्यञ्चआयु तथा मनुष्यआयु
४	तित्थ	तीर्थ	तीर्थङ्कर नामकर्म
५	तित्थयर	तीर्थकर	तीर्थङ्कर नामकर्म
७	तिरिय	तिर्यच्	तिर्यञ्च
११	तरु	तरु	वनस्पतिकाय
१२	तिरियनराउ	तिर्यग्नरायुष्	तिर्यञ्च-आयु तथा मनुष्यआयु
१२	तणुपज्जत्ति	तनुपर्याप्ति	शरीर पर्याप्ति
१३	तस	त्रस	त्रसकाय
१३	तम्मिस्स	तन्मिश्र	औदारिकमिश्रकाययोग
१६	तम्मिस्स	तन्मिश्र	वैक्रियमिश्रकाययोग
१६	तिय कसाय	तृतीय कषाय	तीसरा कषाय

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१७	ति	त्रि	तीन
१९	तेरस	त्रयोदशन्	तेरह
२०	तेण	तेन	इस से
२१	तं	तन्	वह
२२	तेअ	तेजस्	तेजो लेश्या
२४	तेर	त्रयोदशन्	तेरह
२४	त्ति	इति	इस प्रकार
		थ	
२	थावर	स्थावर	स्थावर नामकर्म
३	थीणतिग	स्त्यानर्द्धि-त्रिक	स्त्यानर्द्धि-त्रिक
		द	
२	देवाउ	देवायुष्	देवायु कर्म
३	दुहग	दुर्भग	दुर्भग नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
८	देस	देश	देश विरति
९	देसाइ	देशादि	देशविरति आदि गुणस्थान
१७	दु	द्वि	दो
१७	दस	दशन्	दस
१८	दुन्नि	द्वि	दो
१८	दो	द्वि	दो
२०	देवमणुआउ	देवमनुजायुष्	देव आयु तथा मनुष्य आयु
२४	देविंदसूरि	देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि

न

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२	नरय	नरक	नरकगति नामकर्म
२	नपु	नपुंसक	नपुंसक वेद मोहनीय
३	निय	नीच	नीच गोत्रकर्म
३	नर	नर	मनुष्यगति नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
४	निरय	निरय	नारक
४	नपुचउ	नपुंसक-चतुष्क	नपुंसक-चतुष्क
५	नराउ	नरायुष्	मनुष्य आयु
६	नरदुग	नर-द्विक	मनुष्य-द्विक
६	नपुंसचउ	नपुंसक-चतुष्क	नपुंसक-चतुष्क
८	नरय-सोल	नरक-षोडशक	नरकगति आदि १६ प्रकृतियाँ
९	नर	नर	मनुष्य
९-११	नवसउ (य)	नवशत	एक सौ नव
१०	नवरं	नवरं	विशेष
१२	न	न	नहीं
१३	नर-तिग	नर-त्रिक	नर-त्रिक
१४	नरतिरिआउ	नर तिर्यगायुष्	मनुष्यआयु तथा तिर्यञ्च आयु
१६	नव	नवन्	नव

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१९	निय	निज	अपना
२२	नरय-नव	नरक-नवक	नरकगति आदि नव प्रकृतियाँ
२२	नरय-बार	नरक द्वादशक	नरकगति आदि बारह प्रकृतियाँ
२४	नेय	ज्ञेय	जानने योग्य

प

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५	पंकाइ	पंकादि	पंक आदि नरक
७	पज्ज	पर्याप्त	पर्याप्त
९	पर	पर	परन्तु
११	पुढवी	पृथिवी	पृथिवी-काय
१२	पुण	पुनर्	फिर
१३	पणिंदि	पंचेन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
१६	पंच	पंचन्	पांच

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१७	पढमा	प्रथम	पहला
१८	परिहार	परिहार	परिहार विशुद्ध चारित्र
२२	पम्हा	पद्मा	पद्मलेश्या
		ब	
१	बन्ध-विहाण	बन्ध-विधान	बन्ध का करना
१	बन्धसामित्त	बन्ध-स्वामित्व	बन्धाधिकार
४	वंधहिं	बध्नन्ति	बाँधते हैं
५	बिसयरि	द्विसप्तति	बहत्तर
८	बीअकसाय	द्वितीय कषाय	अप्रत्याख्यानावरणकषाय
१२	बिंति	ब्रुवन्ति	कहते हैं
१६	बिअ	द्वितीय	दूसरा
१७	बारस	द्वादशन्	बारह
२०	बंधंति	बध्नन्ति	बाँधते हैं

भ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५	भंग	भंग	प्रकार
१०	भवण	भवण	भवनपतिदेव
२३	भव्व	भव्य	भव्य

म

२	मिच्छ	मिथ्या	मिथ्यात्व मोहनीय
३	मज्झागिअ	मध्याकृति	बीच के संस्थान
४	मिच्छ	मिथ्या	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
५	मीस	मिश्र	मिश्र गुणस्थान
७	मीस-दुग	मिश्र-द्विक	मिश्रदृष्टि तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
१३	मणवयजोग	मनोवचोयोग	मन-योग तथा वचन-योग
१८	मणनाण	मनोज्ञान	मनः पर्यायज्ञान

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१८	मइ-सुअ	मति-श्रुत	मति और श्रुति ज्ञान
१९	मिच्छ-तिग	मिथ्यात्रिक	मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थान
२३	मिच्छ-सम	मिथ्या-सम	मिथ्यादृष्टि गुण स्थान के तुल्य
		र	
३	रिसह	ऋषभ	वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन
५	रयणाइ	रत्नादि	रत्नप्रभा आदि नरक
११	रयण	रत्न	रत्नप्रभा
१६	रहिअ	रहित	रहित
		ल	
१७	लोभ	लोभ	लोभ कषाय मार्गणा
२४	लिहिय	लिखित	लिखा हुआ

व

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१	विमुक्क	विमुक्त	मुक्त
१	वंदिय	वन्दित्वा	वन्दन करके
१	वद्धमाण	वर्धमान	महावीर
१	वुच्छं	वक्ष्ये	कहूँगा
२	विउव्व	वैक्रिय	वैक्रिय
२	विगलतिग	विकलत्रिक	विकलत्रिक
४	वज्जं	वर्ज्य	छोड़ करके
४	विणा	विना	विना
५	विणा	विना	विना
७	विरहिअ	विरहित	रहित

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१०	वि	अपिच	भी
१०	वण	वन	वाण व्यन्तर
१०	व्व	इव	यथा
११	विगल	विकल	विकलेन्द्रिय
१६	वेउव्व	वैक्रिय	वैक्रियकाययोग
१६	वेद-तिग	वेद-त्रिक	तीन वेद
१९	वेयग	वेदक	वेदक सम्यक्त्व
२०	वट्टंत	वर्तमान	वर्तमान
		स	
१	सिरि	श्री	श्री
१	समास	समास	संक्षेप
२	सुर	सुर	देवगति नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२	सुहुम	सूक्ष्म	सूक्ष्म नामकर्म
३	संघयण	संहनन	संहनन
४	सुरइगुणवीस	सुरैकोनविंशति	देवगति आदि १९ प्रकृतियाँ
४	सय	शत	सौ
४	सासण	सास्वादन	सास्वादन गुणस्थान
५	संम	सम्यक्	अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान
६	सत्तमि	सप्तमी	सातवीं
६	सासाण	सास्वादन	सास्वादन गुणस्थान
७	सयरि	सप्तति	सत्तर
७	सतरसउ	सप्तदशशत	एकसौ सत्रह
८	सुराउ	सुरायुष्	देवायु
१०	सुर	सुर	देव

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१०	सहिअ	सहित	सहित
११	सणंकुमाराइ	सनत्कुमारादि	सनत्कुमार आदि देवलोक
१२	सुहमतेर	सूक्ष्म-त्रयोदशक	सूक्ष्म नामकर्म आदि तेरह प्रकृतियाँ
१५	साय	सात	सात वेदनीय
१७	संजलण तिग	संज्वलन	संज्वलन क्रोध मान माया
१८	सग	सप्तन्	सात (७)
१८	समइअ	सामायिक	सामायिक चारित्र
१९	सुहुम	सूक्ष्म	सूक्ष्म-संपराय चारित्र
१९	सठाण	स्वस्थान	अपना गुणस्थान
२१	साणाइ	सासादनादि	सास्वादन आदि गुणस्थान
२१	सव्व	सर्व	सब
२२	सुक्का	शुक्ला	शुक्ल लेश्या

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२३	संनि	संज्ञिन	संज्ञि मार्गणा
२४	सोउ	श्रुत्वा	सुन कर

ह

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२	हुंड	हुंड	हुंडक स्थान
५	हीण	हीन	रहित

परिशिष्ट ग

'बन्धस्वामित्व' नामक तीसरे कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचन्दं ।
गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥ १ ॥
जिणसुर विउवाहारदु-देवाउ य नरयसुहुम विगलतिगं ।
एगिंदिथावरायव-नपुमिच्छं हुंडछेवट्ठं ॥ २ ॥
अणमज्झागिइ संघय-णकुखग नियइत्थिदुहग थीणतिगं ।
उज्जोयतिरिदुगं तिरि-नराउनरउरलदुगरिसहं ॥ ३ ॥
सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहिं निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सयं, सासणि नपुचउ विणा छनुई ॥ ४ ॥
विण अण-छवीस मीसे, बिसयरि संमंमि जिणनराउजुया ।
इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयररहीणो ॥ ५ ॥
अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे ।
इगनवई सासाणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥ ६ ॥
अणचउवीसविरहिआ, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।
सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं (र) ॥ ७ ॥
विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अणएगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि संमे, बीयकसाए विणा देसे ॥ ८ ॥

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं, नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥ ९ ॥

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ।
कप्पदुगे वि य एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

रयणु व सणंकुमारा-इ आणयाई उज्जोयचउरहिया ।
अपज्जतिरिय व नवसय, मिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥ ११ ॥

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं ।
तिरियनराऊहि विणा, तणुपज्जतिं न ते जंति ॥ १२ ॥

ओहु पणिदितसे गइ-तसे जिणिक्कारनरतिगुच्च विणा ।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

आहारछग विणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं ।
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥ १४ ॥

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय संमि जोगिणो साय ।
विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥ १५ ॥

सुरओहो वेउव्वे, तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइमबियतिय-कसाय नवदुचउपंचगुणे ॥ १६ ॥

संजलणतिगे नव दस, ओहे च अजइ दुति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचऊ ॥ १७ ॥

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलदुगि दो चरमा-ऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥ १८ ॥
अड उवसमि चउ वेयगि, खइये इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥ १९ ॥
परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंतितेण अजयगुणे।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥ २० ॥
ओहे अट्ठारसयं, आहारदुगूण-माइलेसतिगे।
तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥
तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउनरयबारविणु सुक्का।
विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥ २२ ॥
सव्वगुण भव्व-संनिसु, ओहु अभव्वा असंनि मिच्छसमा।
सासणि असंनि संनिव्व, कम्मणभंगो अणाहारे ॥ २३ ॥
तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेरत्ति बन्धसामित्तं।
देविंदसूरि लिहियं; नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥ २४ ॥

मण्डल की कुछ पुस्तकें।

१	सम्यकत्व शल्योद्धार	॥=)
२	चैत्यवन्दन सामायिकसार्थ	-)
३	वीतरागस्तोत्र	≡)
४	गीतादर्शन	२)
५	देवपरीक्षा	-)॥
६	श्रीज्ञान थापने की विधि	≡)
७	सामायिक और देववन्दन	)॥
८	पहिला कर्मग्रन्थ	१।)
९	दूसरा कर्मग्रन्थ	।॥)
१०	तीसरा कर्मग्रन्थ	॥)
११	चौथा कर्मग्रन्थ	२)
१२	योगदर्शन योगविंशिका	१॥)
१३	कमनीय कमलिनी	।-)
१४	भजन पचासा	-)॥
१५	नवतत्त्व	।-)
१६	भक्तामर और कल्याण-मन्दिर	=)॥
१७	उपनिषद् रहस्य	=)॥
१८	सदाचार रक्षा प्रथम भाग	।-)
१९	उत्तराध्ययन सूत्रसार	=)
२०	श्रीजिन कल्याणक संग्रह	-)
२१	चतुर्दश नियमावली	)॥
२२	साहित्य संगीत निरूपण	॥=)
२३	भजन मंजूषा	)॥।
२४	कलियुगियों की कुलदेवी	)॥।
२५	हिन्दी जैनशिक्षा प्रथमभाग	)॥
२६	" " दूसरा भाग	-)
२७	" " तीसरा भाग	-)॥
२८	" " चौथा भाग	=)
२९	लोकमान्य तिलक का व्याख्यान	)।
३०	अजित शान्तिस्तवन	)॥
३१	दण्डक	।)
३२	बालहित मार्ग	-)॥
३३	जीव विचार	।-)
३४	पंचकल्याणक पूजा	-)
३५	ढूंढकों की पोलमपोल	=)
३६	परिशिष्ट पर्व	१)
३७	माधव मुख चपेटिका	)।
३८	इन्द्रिय पराजय दिग्दर्शन	।=)
३९	श्वेताम्बर और दिगम्बर संवाद	-)॥

४० बूटदेव की स्तुति)।
४१ जैन बालोपदेश)॥
४२ जैनधर्म पर एक महाशय की कृपा ।)
४३ सप्तभंगीनय हिन्दी)॥
४४ पंच तीर्थ पूजा -)॥
४५ रत्नसार प्रथम भाग २)
४६ स्वामी दयानन्द और जैनधर्म ॥)
४७ विमल विनोद ॥=)
४८ तत्त्वनिर्णय प्रसाद ३)
४९ हंस विनोद ।॥)
५० तत्त्वार्थसूत्र -)
५१ ग्रहशान्ति स्तोत्र -)॥
५२ गौतम पृच्छा -)
५३ विज्ञप्ति त्रिवेणी १)
५४ शत्रुञ्जयतीर्थोद्धार प्रबंध ॥=)
५५ सम्बोध सत्तरि -)
५६ हिदायत बुतपरस्तियेजैन ।)
५७ व्याकरण सार ।=)
५८ अनमोल मोती -)॥
५९ पोसहविधि)॥
६० धर्मशिक्षा १)
६१ जैनभानु ।-)
६२ दिव्य जीवन ।॥)
६३ जगत जननी ।-)
६४ पुरुषार्थ दिग्दर्शन ।)
६६ सूराचार्य और भीमदेव ।)
६७ मूर्त्तिमण्डन ।)
६८ दयानंदकुतर्कतिमिरतरणि ।=)
६९ द्रव्यानुभव रत्नाकर २)
७० पुराण और जैनधर्म
७१ ही और भी पर विचार -)॥
७२ मांस भक्षण निषेध)॥
७३ पाँच पैर की गौ)॥
७४ धम्मिलकुमार चरित्र ॥=)
७५ गौतम स्वामी का रास)॥
७६ व्याख्यान दयाधर्म =)
७७ विश्वलीला -)

31 The Chicago Prashnottar ... 0—12—0
32 Some Distinguished jains ... 0— 8—0
33 The study of Jainism ... 0—12—0
34 Lord Krishna's Message ... 0— 4—0
35 The Master Poets of India ... 0— 4—0